कला

हंसकुमार तिवारी

मानसरोवर प्रकाशन
गया

आवरण
शिल्पी श्री इन्द्र दूगड

पाँच रुपये

मुद्रक
गया प्रिंटर्स, गया

माता-पिता

की

पुण्य-स्मृति में

शब्द

'३६ में मैंने कला पर एक निबन्ध लिखा था। उन दि
तो जोरों की थी, पर तद्विषयक साहित्य की नितांत कमी थ
बड़ी पसन्द आयी। तब हिन्दी के यशस्वी औपन्यासि
' जी की प्रकाशन-संस्था थी—युगांतर साहित्य मन्दिर
से निबन्ध को पुस्तकाकार छापा। सन् '३७ में वह छो
ों की दुनिया में आयी। 'हिन्दी पुस्तक साहित्य' मे श्री मा
का उल्लेख करते हुए लिखा भी है कि तब हिन्दी में इस
पुस्तक थी। कला-जिज्ञासुओं ने पुस्तक को अपनाया। लि
रण हाथोंहाथ निकल गया। दूसरे संस्करण की माँग हुई, मु
ोते रहे। पर मुझे उसका वैसा आग्रह न था। इसलिये
। यह मतलब था कि कला जैसे जरूरी विषय पर अधिका
आकृष्ट हो और हिन्दी में उसके विभिन्न अंगों पर आवश्यक
न रहे। सोलह साल का अर्सा निकल गया। इस बीच में
सारे लेख सामने आये, विभिन्न विद्वानों के लेखों का ए
। कोई एक ऐसी पुस्तक फिर भी न निकली, जिसमें कला
हो, जिससे कला-प्रेमियों को कला के सभी पहलुओं का
। उसके लिये जिस निश्चिन्तता, जिन साधनों का प्रयोजन है,
य ही दुर्लभ हैं फिर भी मैंने यह नयी पुस्तक लिख
ने उपस्थित की है। यह जो है, आप के हाथों है। ज
चाहता था, अपनी अक्षमता, व्यस्तता और समयाभाव से
का। अतः इसकी जो त्रुटियाँ हैं, उनके लिये क्षमा चाहता
हिन्दी पाठकों को कुछ भी लाभ पहुँचा, तो अपना श्रम सार्थ
क के लिखने में जिन मित्रों की प्रेरणा और सहायता रही
कृतज्ञता मूक है। प्रसिद्ध चित्रशिल्पी श्री इन्द्र दूगड़ का
कलकत्ते में अपने चित्रों की प्रदर्शनी में अत्यधिक व्यस्त र
ने नेह के नाते इसका कलात्मक आवरण बना भेजने का क

—हंसकुम

अनुक्रमणिका

कला-चर्चा

कला-साधना की परम्परा तो निस्सन्देह बड़ी पुरानी है, किन्तु कला-चर्चा की कड़ी भी उससे कुछ कम लम्बी नहीं। वेद में कला का उल्लेख है। उपनिषद ने ब्रह्म को पूर्ण कलाकार और इस विशाल सृष्टि को उसकी कला कहा है। वेदांत दर्शन में ऐसा उल्लेख मिलता है कि ब्रह्म आदि कवि है, यह विश्व उसकी कविता है, जो छन्द, पद्य, लय एवं आनन्द में प्रकाशित है। ऐसे उल्लेख उदाहरण के लिये और भी बहुत हैं। इस बात के ऐतिहासिक सबूत प्राप्त हैं कि बुद्ध-काल में कला नागरिक जीवन का अपरिहार्य अंग बन गयी थी। 'ललित विस्तर' में ८६ कलायें गिनायी गयी हैं, जिनमें ६४ काम-कलायें भी शामिल हैं। कहा गया है, उनमें की जितनी पुरुष-कलायें हैं, बुद्ध को उन सब की शिक्षा दी गयी थी। इस पर से सहज ही यह समझा जा सकता है कि बुद्धपूर्व काल में भी किसी न किसी रूप में कला-चर्चा समाज में रही होगी। ग्रन्थों के स्वाध्याय से पता चलता है कि प्राचीन भारत में नागरिकों के लिये कला-ज्ञान की दीक्षा अनिवार्य-सी थी और उनका घर, आचार-व्यवहार, जीवन कलामय था।*

वात्स्यायन ने अपने 'कामसूत्र' में ६४ कलाओं के नाम दिये हैं। 'कामसूत्र' का रचना-काल कोई-कोई ६१७ ई० पू० मानते हैं, कोई-कोई ३१२। लेकिन यह बात विवादग्रस्त है। आनुमानिक मीमांसा से यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ईस्वी सन् के प्रारम्भ के आस-पास उसका समय होगा। यशोधर पंडित ने ग्यारहवीं-बारहवीं सदी के लगभग उसकी टीका लिखी जिसमें 'कामसूत्र' के प्रथम अधिकरण की टीका में उन्होंने भारतीय चित्रशिल्प के षडंग का निर्देश किया है।† अवश्य वात्स्यायन ने अपने पूर्वरचित शास्त्रों से भी विषय-निरूपण में सहायता ली होगी। अपने ग्रन्थ के उपसंहार में वात्स्यायन ने स्वयं स्वीकार किया है कि कामसूत्र की रचना में मैंने पहले के

---

* प्राचीन भारत में कला-विलास

† रूप भेदाः प्रमाणानि भाव लावण्य योजनम्।
साद्दश्यं वर्णिकाभंग इति चित्रं षडंगकम्॥

शास्त्रों के समह ओर प्रयोग का सहारा लिया है।§ वे शास्त्र क्या और कौन-से थे, यह जानने का तो आज कोई उपाय नहीं रह गया है, किन्तु इसके पूर्व कला-चर्चा थी, स्वत. सिद्ध हो जाता है। ४७९ से ५०१ ईस्वी के बीच चीनी शिल्पाचार्य सेह हो ने भारतीय षडग के अनुरूप चीनी चित्र विधान को लिपिबद्ध किया था। यह भी ज्ञात हुआ है कि उससे कोई दो सौ साल पहले ही चीनी मूर्तिकार ताइ कुशी ने चीन मे अमिताभ बुद्ध की प्रतिमा बनायी थी।*

ऐसे कई पुराने और प्रामाणिक ग्रथ हैं, जिनमें कला की सूची पायी जाती है। इनमे से दो का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, और दो जो सर्वापेक्षा प्रमुख हैं, वे हैं 'शुक्रनीतिसार' और 'प्रबधकोष'। 'शुक्रनीति' मे ६४ और 'प्रबधकोष' म ७२ कलाओं के नाम आये हैं। इनके अतिरिक्त भी जिन ग्रथों में कला-सूची आयी है, थोड़ा बहुत हेर-फेर के साथ संख्या और नाम लगभग यही आये हैं।† ज्यादा सूचियों में ६४ की सख्या ही आयी है। जैन ग्रथों में भी ६४ कलायें आयी हैं और उन्हे 'महिलागुण' कहा गया है। 'कालिका-पुराण' में कला की उत्पत्ति की एक छोटी सी कथा आयी है, उससे भी ये कलायें 'महिलागुण' ही प्रमाणित हुई हैं। कथा इस प्रकार है। ब्रह्मा ने सबसे पहले प्रजापति और ऋषियों को उत्पन्न किया, उसके बाद सध्या नाम की एक कन्या को, उसके बाद काम के देवता मदन को। मदन के बाण को अपरिसीम और अजेय शक्ति देकर ब्रह्मा ने उससे सृष्टि-कार्य मे सहायता देने की कामना की। और हुआ ऐसा कि मदन के बाण के पहले शिकार ब्रह्मा ही हुए। फलस्वरूप वे सध्या पर आसक्त हो गये और इस सबध से उत्पन्न हुए ब्रह्मा के ४९ भाव, सध्या से ६४ कलायें। यह 'कालिकापुराण' ऐसा कोई प्राचीन ग्रथ तो नहीं है, न ही सभवत' वैसा समर्थित या प्रामाणिक। लेकिन, कला महिलागुण है, इस पिछली मान्यता की उसमें पुष्टि है।

यों तो कला के प्रति आज की मान्यता, आज का उदार दृष्टिकोण,

§ पूर्व शास्त्राणि संहृत्य प्रयोगानुपसृत्य च।
कामसूत्रमिदं यत्नात् संक्षेपेण निवेशितम्॥

* शिल्पाचार्य अवनींद्र नाथ ठाकुर लिखित—भारत शिल्पेर षडंग।

† श्री ए० वेंकट सुब्बैया द्वारा संकलित कला-सूची। श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'प्राचीन भारत में कला-विलास' में उसका कुछ अंश प्रकाशित किया है।

वर्तमान-व्यापक धारणायें तब नहीं थीं, फिर भी कहीं-कहीं उसके उद्देश्य और मर्यादा-निरूपण की भी चेष्टा पायी जाती है। शैवागमों में तत्व ३६ माने गये हैं और यह कला उन्हीं तत्वों में से एक है। उस दार्शनिक विवेचन में यह दिखाया गया है कि व्यापक चैतन्य के पाँच सहज धर्म हैं, जिनसे उनके स्वरूप की धारणा होती है। वे सहज धर्म हैं—नित्यता, व्यापकता, पूर्णता, सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता। जीवात्मा में उसके इस स्वरूप के पाँच प्रकाश हैं—काल, नियति, राग, विद्या और कला। चैतन्य पर माया के ये पाँच आवरण हैं, जिनमें कला पाँचवाँ आवरण है। माया से चैतन्य की सहज शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं। कला चैतन्य की सर्वकर्तृत्व शक्ति की मूल प्रेरणा का मायावृत्त क्षीण रूप है, जिसमें सृष्टि की व्यापक अजेय शक्ति छोटी-मोटी रचनाओं में ही आत्मतृप्ति करती है। और, इसीलिये उस रचना को परमतत्व की ओर उन्मुख करके सृष्टि की महत्ता से मर्यादित करने का शुभ निर्देश भी किया गया है। कहा गया है कि जिसमें भोग ही चरमलक्ष्य है, वास्तव में वह कला नहीं। सच्ची कला तो वही है, जो परमतत्व की ओर उन्मुख करती है।

इतना कुछ होते हुए भी हमें कहना पड़ता है कि कला का यह स्वरूप उन दिनों नहीं था। सामाजिक जीवन का आवश्यक श्रृंगार, नागरिक के लिये कला-ज्ञान की अनिवार्यता, यह सब कुछ उस युग में चाहे हो, पर वह कला का सुन्दर वाह्य विधान ही था, प्राणप्रतिष्ठा तो उसकी आज हुई है। कला-विचार के पिछले और आज के मानदंड में आकाश-पाताल का अंतर है। कला के इतिहास में उसकी व्यापकता और विस्तृति ने एक नया ही अध्याय जोड़ दिया है। इस व्यापकता से हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि आज कला की चर्चा अधिक से अधिक लोग करने लगे हैं अथवा कि उसकी सीमा में अनेक विषय और व्यापार को स्थान मिल गया है, बल्कि यह कि उसके प्रति हमारा जो दृष्टिकोण है, उसमें अभिनवता है, उसके लिये नये मूल्य और नयी मान्यतायें प्रतिष्ठित हुई हैं, उसकी मर्यादा को विस्तार और स्वरूप को संयमित उदारता दी गयी है। इस नयी दृष्टि का सबसे बड़ा दान तो यह है कि अब कला एक वाह्य शिल्पगुण ही नहीं समझी जाती, वह जीवन और आत्मा के सौंदर्य से प्राणवंत होती है। उसे हम एक सृष्टि मानते हैं, विश्वामित्र की तरह विधाता के विरोध की सृष्टि नहीं, उसके अनुरूप, जिसमे सृष्टि के मूक सौंदर्य को वाणी मिलती है, अज्ञात रहस्य को प्रत्यक्ष रूप मिलता है, गूढ़ता की सहज सुन्दर व्याख्या होती है। यों तो उस समय की

तरह आज भी हम प्रत्येक बुद्धिमूलक क्रिया या व्यापार को 'कला' की आख्या दे बैठते हैं। कहते हैं, कवि हर्ष को अपनी कला-सर्वज्ञता का परिचय देने के लिये किसी रानी को जूता पहनाना पड़ा था, जिस आत्म-ग्लानि से कि बेचारा सन्यासी होकर ससार छोड़ गया था! आज भी बात-बात में हम कला का चन्दन चढाते हैं—चोरी, गिरहकटी तक को कला ही कहते हैं! लेकिन जिसे आज चारुकला, ललित कला कहते हैं, उसकी सीमा में किसी भी ऐसी कला का अब प्रवेशाधिकार नहीं है, जो सचमुच किसी दिव्यदृष्टि का दान न हो, जिसे मानसिकता की महिमा ने मडित नहीं किया हो। पुराने युग में कला को मात्र मनोरजक साधन, बाह्य प्रचेष्टाओं से सभव होने वाली वस्तु का हीनपद ही दिया गया। यह समझा गया कि वह आयास सुलभ है, शिक्षाजन्य कुशलता से वह रची जा सकती है और उसका प्रयोजन केवल विलास है। ऐसा नहीं होता तो उससे काव्य को अलग नहीं रखा गया होता।

'शुक्रनीति' में ऐसा कहा गया कि कला वही है, जो गूगे को सुलभ हो। गूगे को सुलभ होने का तात्पर्य ही है कि साहित्य (सगीत भी) कला नहीं हो सकता। सगीत का तो खैर गिनती आ जाती है। दडी ने नृत्य गीत प्रमृत्य. कलाः कामार्थ सश्रया—कहकर उन्हें कामशास्त्र की ६४ कलाओं के अतर्गत ही रक्खा है और इन्हें कला रूप में (शास्त्र या रीति) में ही मानने का स्पष्ट निर्देश किया है।

'न तज्ज्ञान न तच्छिल्पम् न सा विद्या न सा कला' की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने गीत-वाद्य को कला कहा है। 'प्रसाद' जी ने इसी पर से यह निष्कर्ष निकाला है कि सभवत इसीलिये आज भी गाने-बजानेवालों को कलावत कहा जाता है ('काव्य-कला' निबध)। काव्य वास्तव में, हमारे यहाँ विद्या माना गया और कला उपविद्या। भामह ने कला को काव्य का एक विषय भर माना है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं, काव्य का विज्ञान या उसका रचना-कौशल। मूलत काव्य रूपायन है—रूप सृष्टि। रवींद्र ने इसीलिए कलाविद् को नया नाम दिया है 'रूपदक्ष'। वह जीवन का द्रष्टा है, आत्मा का रूपकार। बृहदारण्यक में आत्मा को मनोमय, प्राणमय, वाङ्मय कहा गया है। काव्य वही वाङ्मयी मूर्त्ति है। इस रूप प्रतिष्ठा मे, अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष, निर्भाषा को वाणीरूप, अमूर्त को रूपमय बनाने में जिस चातुरी, जिस कौशल, जिस रीति का काव्य को सहारा लेना पड़ता है, काव्य के लिये कला भामह की दृष्टि मे वही है, अन्य कुछ नहीं। 'काव्यालकार' में

उन्होंने साफ शब्दों में लिखा—

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला ।
जायते यन्न काव्यांगमहो भारः महान् कवेः ॥

भर्तृहरि ने अपने प्रचलित श्लोक में काव्य को कला से भिन्न ही माना है।

साहित्य संगीत कला विहीनः ।

यहाँ साहित्य काव्य का ही बोधक है। काव्य का यह समार्थक शब्द अर्वाचीन है, जो भाषारचित प्रत्येक रूप सृष्टि के लिये अब प्रयुक्त होने लगा है।§ शब्द और अर्थ की सन्निधि के रूप में भामह ने पहले लिखा—'शब्दार्थौ सहितं काव्यं'। फिर कुंतक ने नाना तर्क-युक्तिओं द्वारा इसकी प्रतिष्ठा की। अपने काव्यालोचन के प्रारंभ में ही कुतक ने लिखा----साहित्यार्थ सुधासिन्धोः सारमुन्मीलयाम्यहम्! और आज 'साहित्य' प्रचलित ही नहीं हुआ, उसका आदर्श क्षेत्र भी बहुत व्यापक हो गया। उससे शब्द और अर्थ के साहित्य की ही प्रतीति नहीं, वरन् मन से मन, एक से दूसरे मनुष्य के साहित्य की विश्व-भावना का भी बोध होता है।

इस प्रकार काव्य के प्रति भारत की दृष्टि और थी, कला के प्रति प्रारम्भिक मान्यता कुछ और। यहाँ काव्य को कला तो नहीं माना गया, काव्य का एक कलापक्ष अवश्य माना गया। सत्य की अभिव्यक्ति के हमारे यहाँ दो साधन माने गये हैं—काव्य और शास्त्र।* काव्यकार कवि को ऋषि का ही पर्याय-वाची माना गया। इसलिये काव्य की सत्यज्ञापन शक्ति के लिये कला शास्त्रपक्ष ही ठहरी। इसकी विज्ञान से अधिक निकटता है। अतः जो शिल्प विज्ञान के समीप थे, कला को भी उन्हीं की श्रेणी में रक्खा गया। ऐसे शिल्पों में भवन-निर्माण, चित्र, मूर्त्ति आदि की गिनती की गयी।

भवन्ति शिल्पिनो लोके चतुर्धा स्व स्व कर्मभिः।
स्थपतिः सूत्रग्राही च वर्धकिस्तक्षकस्तथा ॥

---

§ विल्हणकृत 'विक्रमांक देव चरित' से एक उदाहरण साहित्य की वाङ्मय के अर्थ में प्रयुक्ति का मिलता है—

साहित्य पाथोनिधि मंथनोत्थं काव्यामृतंरक्षत हे कवीन्द्रा।
यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थ चौराः प्रगुणी भवन्ति।
गृह्णन्तु सर्वे यदि वा यथेष्टं नास्तिक्षतिः कापि कवीश्वराणाम्।
रत्नेषु मुष्टेषु बहुष्व मर्त्यैरद्यापि रत्नाकर एवं सिन्धुः।

* द्वे वर्त्मनी गिरो देव्याः शास्त्रं च कवि कर्म च।

ऊपर उल्लिखित कला-सूचियों में काव्य का स्थान क्या रक्खा गया है, इस पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। 'ललित विस्तर' की ८६ कलाओं में काव्य-साहित्य की केवल लिपि (लेखन-अर्थात् कातिब का काम), काव्य व्याकरणम् (काव्य की व्याख्या), ग्रन्थ रचितम् (लेखन), गीत पठितम् (गाना और काव्य पाठ करना) और क्रियाकल्प (काव्यालंकार) ये ही बातें गिनायी गयी हैं। वात्स्यायन ने काव्यक्रिया और क्रियाकल्प—तत्सम्बन्धी इन्हीं दो बातों की गणना की है। इसी तरह काव्य से सम्बन्धित 'लिखितम्' और काव्यम्—इन्हीं दो को 'प्रबन्ध कोष' में भी शामिल किया गया है। 'शुक्रनीति' में एक भी ऐसी बात सूची में नहीं है, जो साहित्यविषयक हो। काश्मीर के पंडित क्षेमेन्द्र ने अपने 'कला विलास' में बहुत-सी कलायें गिनायी हैं—जनोपयोगी ६४, सुनार की ६४, वेश्या की ६४, कायस्थ की १६ और इनके सिवाय भी धूर्तों की अनेक कला—किन्तु काव्य-साहित्य की कोई चर्चा उसमें नहीं।

जिन बातों को कला-सूचियों में स्थान मिला है स्पष्टतया उनमें से एक भी ऐसी नहीं, जिस पर से हम यह समझें कि काव्य की भी कला में गणना की गयी है। ये सारी बातें कला की आत्मा की बात नहीं, कौशल, चमत्कार, उक्तिवैचित्र्य से सम्बन्धित हैं। फलत यह मात्र कर्तृत्व का व्यञ्जक ही है—व्यजयति कर्तृशक्ति कलेति तेनेह कथित सा। 'काव्यादर्श' में दण्डी ने कला विरोध की चर्चा की है—

वीर शृंगारयोर्भावो स्थायिनो क्रोध विस्मयो।
पूर्ण सप्तस्वर सोय भिन्न मार्ग प्रवर्त्तते।

अर्थात् जैसे वीर और शृंगार के स्थायी भाव क्रोध और विस्मय हो (वास्तव में वीर का स्थायी भाव उत्साह और शृंगार का रति होता है)। कला के इस विरोध दर्शन में भी दण्डी ने उसे काव्य के विज्ञान के रूप में ही गिनाया है। अतएव ये काव्य की बातें नहीं, चमत्कार और उक्तिवैचित्र्य हैं। इन उपायों से पहले के कवि राजसभाओं में आशु सम्मान और पुरस्कार पाते थे। इनका सम्बन्ध काव्य की रसदृष्टि के बजाय अलकारों या रचना-परिपाटी से है। यह काव्य नहीं, शास्त्र हो सकता है।

काव्य सृजन की शक्ति जन्मजात मानी गयी है। राजशेखर ने अभ्यास को भी यद्यपि उसका एक कारण माना है, तथापि उन्होंने यह भी माना है कि प्रतिभा न होने पर कविता सिखायी नहीं जा सकती। जैसा कि क्षेमेन्द्र ने कहा है—न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि संदर्शितं पश्यति नार्कमन्ध।

समाधि या मन की एकाग्रता तथा अनुशीलन या अभ्यास काव्योत्पत्ति के कारण हैं। एक से आभ्यन्तरिक शक्ति और दूसरे से प्रयत्न का बोध होता है, इन दोनों से काव्य की मूल शक्ति या प्रतिभा उद्भासित होती है। यही शक्ति काव्य का हेतु है। मम्मट के अनुसार—

शक्तिर्निपुणता लोककाव्य शास्त्राद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

रुद्रट ने भी इस शक्ति को अदृष्टजन्म और प्रयत्नजात माना है किंतु उनका मत है, सहजा के बिना काव्य का उद्भव संभव भी हो, तो वह उपहासास्पद होगा। यह सिद्धान्त सर्वमान्य-सा है। पाश्चात्य देशों में भी यह स्वीकार किया गया है कि कवि पैदा होते हैं, बनाये नहीं जाते। होमर के 'इलियड' में भी (रचनाकाल ईस्वी पूर्व आठवीं सदी) दैवी प्रेरणा और जन्मजात प्रतिभा का उल्लेख एक स्थान में आया है। यथा—"हे डेमोसकस, दैवी प्रेरणा वाले उस कवि को यहाँ बुलाओ, उसके जैसी शक्ति देव ने और किसी को नहीं दी। उसकी आत्मा उसे जिस किसी भी रीति से गाने को कहती है, वह ठीक उसी प्रकार से मनुष्यों के मनःप्रसादन में समर्थ हो सकता है।*

भामह ने इस सृजनक्षम प्रतिभा को 'नैसर्गिकी' और वामन ने इसे 'जन्मजन्मान्तर गतः संस्कार विशेषः' कहा है। यह प्रज्ञा अभ्यासलब्ध तो हो ही नहीं सकती, प्रयत्न और परिशीलन से उसका परिमार्जन भले ही हो। अतः उल्लिखित कला-सूचियों में क्रियाकल्प, काव्य व्याकरण विधि, काव्य-व्याकरण आदि का जो उल्लेख है, वह काव्य नहीं, प्रत्युत उक्ति-वैचित्र्य, समस्यापूर्त्ति, कौशल, चमत्कार, आवृत्ति की विशेषता आदि का ही द्योतक है।§ जर्मन कवि गेटे ने ऐसे चमत्कारवादियों को निरा साहित्य-विलासी माना है, जो अलंकार आदि के चपेटे में आकर काव्यात्मा की हत्या कर बैठते हैं। एक चमत्कार का उदाहरण दें।

द्वंद्वो द्विगुरपि चाहं मद्गेहे नित्यमव्ययी भावः।
तत्पुरुष कर्मधारय येनाहं स्यां बहुव्रीहिः ॥

---

* 'विचार और विवेचन' का 'भारतीय और पाश्चात्य काव्य' शीर्षक लेख।

§ क्रिया कल्प इति व्याकरण विधिः काव्यालंकार इत्यर्थः। त्रितयमपि क्रियांगं पर काव्य बोधानार्थं च—कामसूत्र। और, वाचां विचित्र मार्गाणां निवबंधु क्रियाविधिम्-काव्यादर्श।

आशय है—मैं घर में दो प्राणी हूँ (द्वंद्व)। मेरे पास दो बैल (द्विगु) हैं। मेरे घर में नित्य अव्ययीभाव रहता है यानी गुजारा नहीं चलता, खर्च नहीं जुटता (अव्ययी भाव)। इसलिये हे पुरुष महाशय (तत्पुरुष) ऐसा जतन करिये (कर्मधारय) जिससे मैं अधिक अन्नवाला (बहुव्रीहि) हो जाऊँ। यह द्वयर्थक है—बातों में व्याकरण का सारा समास भेद गूँथ दिया गया है।*

हम इसे काव्य नहीं कहेंगे। यह काव्य की कला हो सकती है। यह अभ्यास है, सहजा शक्ति या दिव्य दृष्टि नहीं। 'कविकर्पटिका' में वैसे अभ्यास की काव्यकारिता के चमत्कार का आश्वासन दिया है कि जो इस ग्रंथ को कंठाग्र कर लेगा वह शब्दार्थ को नहीं जानते हुए भी सभा में शीघ्र श्लोक बना सकेगा।†

फलस्वरूप हमें यह मानना ही पड़ता है कि पाश्चात्य देशों के कला के सैद्धान्तिक विवेचन से हमारा एक मौलिक प्रभेद रहा है। हमारे यहाँ कला की जो आलोचनायें हुई भी हैं, उनका सम्बन्ध विशेषतया उसके व्यावहारिक पक्ष से ही रहा है। दूसरे इस सत्य को भी हमें कबूल करना पड़ेगा कि कला के प्रति हमारा दृष्टिकोण वैसा उदार नहीं रहा, जैसा कि पाश्चात्य देशों में रहा है। कला के उच्चस्तर के प्रति वहाँ वैसी ही गहरी आस्था और उदार विचार उनके रहे, जो हमारी काव्य के प्रति रहे हैं। उन्होंने काव्य को भी कला ही माना और यह उनके लिये अशुभ हुआ हो, यह कहने का कोई खास कारण नहीं। पाश्चात्य विचारकों ने कला को काव्य के ऊँचे स्तर पर रक्खा है। नीत्शे ने तो यहाँ तक कहा कि "धर्मसंस्थायें, दर्शन-शास्त्र, नीतिमत्ता, सब गिरी हुई दशा में हैं। ऐसी अवस्था में एक ही उपाय योजना है, वह है कला।" वेनर का कहना है, "कला दर्शन शास्त्र से भी उच्चतर है। क्योंकि दर्शन ईश्वर की कल्पना ही करता है, कला स्वयं ईश्वर है।" फ्रेडरिक ने कला को अनंत और अपरिमेय बताया। किसी ने सच्ची कला की उपमा कारागार-मुक्त आत्मा से दी है।

जो भी हो, भारत ने कला को यह मान्यता इसके पहले नहीं दी। आज

---

* श्री गंगानाथ झा लिखित 'कवि-रहस्य'

† यत्नादिमां कण्ठगतां विधाय
श्रुतोपदेशाद् विदितोपदेशः।
अज्ञात शब्दार्थ विनिश्चयोऽपि
श्लोकं करोत्येव सभासु शीघ्रं॥

पाश्चात्य विचारों के संस्पर्श में आकर कला के प्रति भारतीय दृष्टिकोण में भी वह प्रसार आया है। यहाँ भी अब हम काव्य को कला मानने लगे हैं। साहित्य के अनेक शुभैषी इसे भी काव्य का एक खतरा मानते हैं। आचार्य शुक्ल ने साहित्य सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन में साहित्य-परिषद् के सभापति वाले अपने अभिभाषण में कहा—मैं फिर जोर के साथ मानता हूँ कि यदि काव्य के प्रकृत स्वरूप की रक्षा इष्ट है, तो उसका पीछा इस 'कला' शब्द से जहाँ तक शीघ्र छुड़ाया जाय अच्छा।

काव्य को कला मान लेने से कौन-सा अहित साधन हुआ, यह तो विचार की अपेक्षा रखता है। यहाँ पहले यह देखना है, अब तक जो काव्य को कला नहीं माना गया, उसके पीछे कुछ ठोस कारण भी थे या नहीं। जहाँ तक काव्य का प्रश्न है, पूर्व और पाश्चात्य दृष्टिकोण में बहुत कुछ समता है, पार्थक्य है कला की पृष्ठभूमि और धरातल को लेकर। अब तक कला का जो रूप रहा, उससे उसे काव्य वाली महत्ता नहीं दी जा सकी। हम काव्य के विशेष स्वरूप और स्वभाव को देखें।

काव्य या साहित्य मूलतः एक सृष्टि है और वह सृष्टि है रूपसृष्टि। उसके आधारस्वरूप होते हैं वाक्य, भाषा। चाहें तो उसे हम वाङ्मय विग्रह या वाङ्मयी मूर्ति कह सकते हैं। इस सृष्टि की मूल विशेषता यही होती है कि भाषा में प्रकट होकर भी इसकी कोई भाषा नहीं होती, अर्थात् यह कुछ कहती नहीं, कोई अर्थ नहीं बताती, केवल हमारे सामने एक रूप खड़ा कर देती है। इस विश्व को हम ईश्वर की सृष्टि मानते हैं। इस सृष्टि की कोई घटना, कोई दृश्य, कोई वस्तु आखिर किस रूप में हमारे सामने आती है? उनके भी कोई भाषा नहीं है, वे हमसे कुछ नहीं कहते, न ही किसी सन्देश की सूचना देते हैं। उनकी सार्थकता मात्र इसी में है कि वे रूप की भाषा में हमारे अन्तर में प्रकाशित हो लेते हैं। उन्हें हम देखते हैं और देखते ही उनके आशय का बोध हमें हो जाता है। निर्भाषा की इस धारणा के हो जाने के अतिरिक्त लोग भी उनसे अधिक कुछ की अपेक्षा नहीं करते। काव्य की भी चरम सिद्धि यही है कि वह अपने रूपमय स्वरूप की सुदृढ़ धारणा लोगों को करा दे। स्वभावतया रूप-निर्माण में रंग, रेखा, आकृति, पट आदि का प्रयोजन होता है। काव्य को अपनी वह चित्रमत्ता भाषा के ही संकेत, इंगित, आभास की मौनता से लानी पड़ती है। क्लटन ब्राक ने इस सत्यता की ताईद की है। कहते हैं—कला-वस्तु का ज्ञान केवल देखने से ही हो जाता है, उसके लिये किसी वाह्य आचरण की आवश्यकता नहीं होती।

कैंट के विचार भी बहुत कुछ इसी से मिलते-जुलते हैं—रूप-सौंदर्य न तो अनुकरण से आता है, न वह कुछ सिखाता है, न वह कोई इच्छा पूर्ति करता है और न किसी नैतिक सिद्धान्त का अनुमोदन करता है। उस रूप-ग्रहण में हमारा जो भाव-पक्ष है, वह एक लयमान क्रीड़ा में रम जाता है। हम चाहते हैं, वह लयमान क्रीड़ा केवल हमारी न होकर सब की हो जाय। अत सौंदर्य का चरम मूल्य यही है कि वह सबके लिये सौंदर्य हो जाय।

कैंट ने रूपग्रहण के भावपक्ष और उसकी सक्रमण-योग्यता का उल्लेख किया है। जहाँ तक सगीत, चित्र, मूर्त्ति का सवाल है, इसी परिणाम तक उसकी सिद्धि हम मान लेंगे। चित्र रग रेखाओं से, सगीत सुर-रचना से, मूर्त्ति छेनी के जादू से चित्रित भावों का उद्रेक श्रोता या द्रष्टा के हृदय में कर देते हैं किंतु इसलिये वे रूपाश्रयी नहीं, बल्कि सही मानी में भावाश्रयी हैं। काव्य को हम पहले ही रुपायन कह आये हैं। उसकी इस रूपमयता का प्रकाश जीवन का साक्षात् सस्पर्श है। वह सस्पर्श, जिसके कारण गोर्की ने जीवन और साहित्य में कोई भिन्नता नहीं मानी है। वह कहते हैं—पुस्तक (अवश्य साहित्य पदवाची) मेरे लिये मनुष्य जैसा ही एक जीवन प्रकाश है—एक प्राणमय सत्ता, एक शब्द और वाक्यमय अस्तित्व। मनुष्य रचित अन्य वस्तुओं जैसी यह नहीं है, यह उन सबसे सर्वथा पृथक् जाति की है।

काव्य की सत्ता केवल भावोद्रेक से ही धन्य नहीं होती, वह प्राणमयता का रूप है और वह रूप-सृष्टि केवल काव्य का ही श्रेय है। उसकी वास्तविक विशेषता दूसरे ढग से इस प्रकार समझी जा सकती है कि वह वाणी का विश्व है—अर्थ होते हुए भी अर्थातीत, भावमय होते हुए भी रूपाश्रित, सगीतमय होते हुए भी विशेष की व्यजना है—अन्य कलाओं की किन्हीं अशों में अनुरूपता तो उसम है, किन्तु वह उनसे परे देश-काल की सीमा से मुक्त है। इसलिये भाव को इस दशा तक पहुँचा देने के अतिरिक्त भी काव्य का बड़ा उत्तरदायित्व जीवन का प्रत्यक्ष परिचय है। अतएव भावों की प्रक्रिया और काव्यगत जीवन के स्वरूप को समझने की जरूरत है।

भाव जो वस्तु है, वह हमारी मानस क्रिया का परिणाम है, किसी चिंतन, किसी धारणा को भी हम भाव कह सकते है। भाव के सहज धर्म दो हैं। या तो वह हमारे मन में उदित होकर वाह्यजगत् पर आरोपित होता है या वाह्यजगत् के सपर्क में आकर हमारे मन में ही उदित होता है। किन्तु काव्य में हम जिस भाव का अर्थ लेते हैं, वह भाव ठीक-ठीक यही नहीं है। उसका उदय हमारी चित्तवृत्ति के एक दूसरे ही स्वाभाविक धर्म से होता है।

उसे हम चाहें तो रस-प्रवृत्ति कह सकते हैं, चाहें तो आनन्द की आकांक्षा। इस भाव के भी दो स्वभाव हैं—या तो वह एकबारगी अंतमुँखी होता है और भाव ही उसकी शेष सिद्धि या शरण होती है और या वह वहिमुँखी होता है। जो वहिमुँखी होता है, वह वस्तुगत अस्तित्व की कामना से अभिप्रेत होता है, जीवन और जगत् का आश्रय-कामी होता है। सृष्टि की प्रेरणा इसी भाव से उद्भूत होती है। इसी प्रेरणा से प्रतिभा वाङ्मयी रचना में तत्पर होती है और रूप-सृष्टि करती है। अपने काव्य-तत्व में एवरक्रॉम्बी ने ऐसी दो प्रेरणाओं का उल्लेख किया है। पहली जो अभिव्यक्त होती है और अभिव्यक्त होकर अपना स्पष्टीकरण करती है; और दूसरी जो स्वयं काव्य हो जाती है। अवश्य इसमें मतैक्य नहीं है।

पिछले दिनों कला की मान्यता बाहरी शिल्पगुण, प्रयासलब्ध कौशल या आत्मसर्वस्वता रही। उसके द्वारा सर्वजनीन चेतना या वस्तुगत समग्रता को रूप देना नहीं, कल्पना-विलास की सार्थकता का ध्यान रहा। उससे भाव के सहारे रूप की, निर्विशेष से विशेष की जीवंत व्यंजना नहीं की गयी; जीवन के प्रत्यक्ष दर्शन, उसके संगीत की संगति, आत्मा की छवि का दर्शन संभव नहीं हुआ। शायद हो कि इसीलिये कला को काव्य के समान उच्चपद नहीं दिया गया। कला बहुत आगे भी बढ़ी तो उसने ज्यादा से ज्यादा यही किया कि इंद्रियों से विषय को विच्छिन्न करके उसमें मानसिक सुषमा का आभास लाया, और भी दूर तक बढ़ी तो 'रस' का संकेत दिया—जीवन का विग्रह, उसकी व्याख्या, उसके स्वरूप का रूप रखने की क्षमता का परिचय वह नहीं दे सकी। संक्षेप में यों कहें—प्रतिमा बनाने का कौशल कला को था, उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करने का अभिसिक्त मंत्र उसके पास नहीं था।

जीवन कहने से साधारणतया हम उसके बाहरी प्रकाश को समझने के आदी हो गये हैं, जो कि ज्ञान-गोचर होता है। इस बाहरी रूप का तात्पर्य हुआ उसका केवल एकांगी रूप, जहाँ वह जीवन-धारण की भौतिक समस्याओं के संघर्ष में परेशान है, प्राकृत दासता की स्वीकृत यातनाओं का भागी है। जीवन तो यह भी है, किन्तु तस्वीर के एक रुख जैसा, उसका खंड-रूप, उसकी विच्छिन्न अवस्था। चूंकि इसमें पूर्णता की उपलब्धि नहीं, इसलिये इसका यथार्थतः कोई रूप भी नहीं होता। लेकिन साहित्यगत जीवन ऐसा खंड और विच्छिन्न जीवन नहीं है। मनोवैज्ञानिकों ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि हमारे जो अनुभव हैं, वे खंड जीवन के आंशिक चित्र हर्गिज नहीं होते—वे संपूर्ण जीवन की संश्लिष्ट संवेदनायें हैं।

साहित्यगत जीवन ऐसा एक नायक है जो समग्र वहिर्जगत, समाज, प्रकृति, परिवार, तज्जनित बाहरी भीतरी सभी संघर्षों की पटभूमि में एक संगति लिये चेतना में प्रतिष्ठित होता है। इंद्रिय प्रत्यक्ष या स्थूल वास्तव जैसा न होकर भी यह वास्तव है, आप इसे चिन्मय वास्तव कह सकते हैं। बाहरी जीवन और आतरिक अदृश्य जीवन में कवि की आत्मचेतना एक सेतुनिर्माण द्वारा दोनों के सामंजस्य से जीवन का यथार्थ रूप सामने लाती है। भौतिक सत्य और जड़ वास्तवता से मेल न होने पर भी वह इसलिये अधिक ठोस वास्तव है क्योंकि उसमें सत्य की प्राणवत्ता भी समाविष्ट है। नाटककार इब्सन ने जीने को एक संघर्ष माना है ' वह संघर्ष उन दैत्यों से है, जो मन और बुद्धि को आच्छन्न करते हैं। रचना का अर्थ अपने को आमंत्रित करके यह कहना है कि आओ और इस युद्ध में निर्णायक बनो।

देह से हमारा अभिप्राय उसके अंगों के अलग-अलग परिचय से नहीं होता, बल्कि उन सारे अंगों की समष्टिगत एकता की जो सुषमा है, उनकी संगति और समन्विति की जो एकरूपता है, हम उसे ही देह कहते या समझते हैं। किन्तु एक शरीरविज्ञानी की दृष्टि ऐसी नहीं होती। वह तो देह को अंगों की समष्टि का एक यन्त्र भर मानता है, जिसकी क्रिया कि प्राण है। इस जीवन से उसका अभिप्राय या उद्देश्य भी केवल इतना होता है कि वह यन्त्र अचल न हो, प्राण की क्रिया चलती रहे। लेकिन देह न तो अंग विशेष की सुषमा से व्यक्त है, न उसकी समष्टि भर से—एड़ी से चोटी तक उसकी जो एक एकरूपता है, उसमें संगति का जो संगीतमय सौष्ठव है, प्राणों की चेतना की जो व्याप्त लावण्य योजना है, स्वस्थता की जो एक कांतिमय दीप्ति है—इन सबको युक्त करके जो एक रूप प्रकाशित है, वही देह है। इस देह में केवल दैहिक लावण्य या भावमय सत्ता का ही प्रकाश नहीं, अपितु आत्मिक चेतना की भी जोत है। इतनी विभिन्नताओं का एक एकीभूत सौसम्य है। सितार के अनेक तारों से अनेक सुरों की एक सम्मिलित ऐक्यतान, शतदल की अनेक पखुड़ियों में विकसित एक सौंदर्य की रमणीयता। इसी तरह साहित्यगत जीवन अपनी समता-विषमता, विरोध सामंजस्य, रूप अरूप, अदृश्य-प्रत्यक्ष, लग्नता-असंलग्नता के बहुविधि वैचित्र्य का एक ऐक्य सुर है, पूर्ण छवि है। जीवन की यह समग्रता भावगत ही नहीं, वह मात्र मन की एकाग्रता से संभव नहीं, उसकी वस्तुगत रूपसत्ता पर आधारित है, जीवन की लहरों पर सत्य के शतदल की प्रतिष्ठा, मानव के जीवन में मनुष्यता की प्रस्थापना। यह शिल्पी या कवि का जीवन-जगत् व्यापार में

साखीगोपाल की निरपेक्ष दृष्टि का परिणाम नहीं, जीवन-संघर्ष के एक क्रियाशील सेनानी की दृष्टि और सृष्टि है। आज भी काव्य-कला के क्षेत्र में हम इस अंतर्दृष्टि की वह संपन्नता उतनी नहीं पाते और भविष्य की ओर आशा की आँखें बिछाये हैं। यही कारण है कि वाल्मीकि और व्यास, कालिदास और तुलसीदास की हमें अपेक्षा है, यही कारण है कि रामायण और महाभारत, ताजमहल और बरबुदर रोज नहीं बन पाते।

ऊपर हमने जीवन के स्वरूप में उसके परिवेश की चर्चा की है। इस परिवेश को बहुत बार आवश्यक सैद्धांतिक महत्व नहीं दिया जाता। साहित्य के कुछ विचारकों ने काव्य को संवेदनाओं और मनोवेगों की अभिव्यक्ति ही कहा है। जिस वृत्ति को कवि की आत्मीयता की आख्या मिलनी चाहिये उसे बहुतों ने व्यक्तिभावना ही स्वीकार किया है। योरप के सौंदर्यवादी विचारक तो अपने वाद के आग्रह में आवश्यक अंगों की अपेक्षा ही करते रहे हैं। क्रोचे ने फ्रायड आदि संवेदनवादियों के भावपक्ष की सदा उपेक्षा की और संवेदनवादियों ने क्रोचे की अभिव्यंजनावाद—स्वयंप्रकाश्य ज्ञान की। फलस्वरूप काव्य मे जीवन के एकांगी प्रकाश की मान्यताओं को बहुत हदतक प्रश्रय मिलता रहा।* सच पूछिये तो जीवन का प्रकाश आवेष्टनगत होता है। पाश्चात्य आलोचकों से बहुत पहले से ही यहाँ के रसवादियों ने इसे स्वीकार किया है। रसवाद के अनुसार विशुद्ध आवेग, संवेदना या अंतः प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति संभव ही नहीं, और इसलिये स्थायी भावों के लिये विभावो की अनिवार्यता मानी गयी। इन विभावों से अभिप्राय उस परिवेश का ही है, जिसमें दृश्य, घटना, परिवार आदि सम्मिलित हैं। यदि यह मान लिया जाय कि भीतरी आवेगों का ही प्रकाशन काव्य है, तो अपने चारों ओर फैले हुए घटनाचक्र, दृश्यराजि, स्त्री-पुरुष के परिवेष्टन से संयुक्त होने का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता। गेटे कवि के लिये परिवेश को निष्प्रयोजन मानते हैं। उनकी राय में कवि को बाहरी उपकरण की अपेक्षा नहीं रहती, उसका कार्य इसकी आंतरिक सामग्रियों से ही चल जाता है। गेटे ने यह नहीं बताया कि यह भीतरी सामग्री क्या है और कैसे उद्भूत होती है।

*** हर्बर्ट रीड में भाव और रूप के समन्वय का विचार हम पाते हैं—पोइट्री इज एक्सप्रेस्ड इन वर्ड्स एंड वर्ड्स सजेस्ट इमेजेज़ एंड आइडियाज़ एंड इन पोइट्री वी मे बी एक्सप्लिसिट्ली कनशस् ऑफ बोथ दि वर्ड्स एंड आइडियाज़ ऑर इमेजेज़ विथ व्हिच दे आर ऐसोशियेटेड।**

वास्तव म कवि की आतरिक सामग्री उसकी सर्वथा निजी नहीं होती, उसके मन में बाह्यजगत् के रूप और छवियाँ इस रूप में अधिष्ठित होती हैं कि अभिव्यक्ति के समय वह आवेष्टन भी कवि को नितात निजी ही प्रतीत होता है। यहाँ तक कि जो गीति-कवितायें एकात आत्मपरक व्यक्तिनिष्ठ और तन्मय समझी जाती हैं, उनमें भी किन्हीं अशो में परिवेष्टन की छाप होती है। होमर, वाल्मीकि व्यास ने अपने चरितनायकों पर आरोपित करके केवल अपनी ही सवेदनायें नहीं व्यक्त कीं, बल्कि उन सवेदनाओ को रूप दिया जिनकी प्रतीति उन्हें प्रतिवेश, विस्तृत जीवन के सस्पर्श से आत्म रूप में हुई। ससार के साथ अपना रागात्मक सम्बन्ध का स्थापित होना यही है। इसीलिये पर्यवेक्षण कवि का एक कर्त्तव्य है और वह पर्यवेक्षण केवल रेल के यात्री की तरह दोनो तरफ के दौड़ते दृश्यों को देखने जैसा न हो, पैनी अतर्दृष्टि, दिव्यदृष्टि का भेदक दर्शन हो, जिसमे रहस्य की अगमता पारदर्शक हो जाती है। इस दर्शन की दृष्टि को हम निरपेक्ष भी नहीं कहेंगे—विपुल विश्व की अनिश्रात जीवन-धारा का स्वय अग होने के नाते देखना, जो शक्तियाँ प्रतिनियत जीवन और कर्म को परिचालित एव नियत्रित करती रहती हैं, उनके साथ साक्षात् सम्बन्ध स्थापित करके देखना इस दृष्टि का धर्म होना चाहिये। जिसे बाइबिल मे 'विजन' कहा गया है और कहा गया है कि जहाँ वह 'विजन' नहीं है, वहाँ सब कुछ विनष्ट होने को है—यह वही दिव्य दृष्टि है। कॉडवेल ने कविता को उद्भिद्यमान आत्मचेतना तो जरूर माना है, मगर व्यक्तिगत रूप म नहीं, अन्य व्यक्तियों के सामान्य भावो के साझीदार रूप में।

काव्य के आत्माभिव्यक्ति वाले स्वरूप में जिस व्यक्ति-चेतना की बात उठती है, वास्तव में, उसका स्वरूप भी वैसा सकीर्ण नहीं है, किन्तु यहाँ उसकी चर्चा विषयातर होगी। हम काव्यगत आत्मचेतना के स्पष्टीकरण के लिये सक्षेप में उसके एक पहलू पर विचार करते हैं। उपनिषद् ने ब्रह्मस्वरूप के तीन रूप बताये हैं—सत्यम्, ज्ञानम् और अनतम्। इन तीन रूपों के तीन गुण हैं—शान्तम्, शिव, अद्वैतम्। अद्वैतम् यानी अन्यों को अपना बनाना, बहुतों में आत्म विस्तार, जिससे ब्रह्म एक से बहु हो गया। मनुष्य उस चित् सत्ता का अशरूप है, अत इसे भी विरासत में आत्मा को वे स्वरूप मिले हैं। मनुष्य का वह सत्य स्वरूप उसकी आत्मरक्षा की चेष्टा में, अस्तित्व को कायम रखने के दुर्दम प्रयत्नों में व्यक्त होता है, जहाँ वह कहता है कि "मैं हूँ"। हमारे ये सारे ही भौतिक आयोजन एकमात्र उसी प्रयोजन

की सिद्धि के परिणाम हैं। ज्ञान-रूप भी प्रत्यक्षतः मनुष्य के अस्तित्वपोषण में ही सहायक है और वह मनुष्य की नित्य नयी जिज्ञासाओं में, दुर्गम मेरु की अनुसंधान-यात्रा, रहस्यों की अगमता में प्रवेश की अप्रतिहत आकांक्षा में प्रकाश पाता है। अन्न-वस्त्र के दैनंदिन प्रयोजन की पूर्ति के समान विपुल ज्ञान-विस्तार की अनंत चेष्टायें मनुष्य की आत्मरक्षा के आयोजन ही हैं, क्योंकि मनुष्य ज्ञान-स्वरूप है। ब्रह्म का तीसरा रूप है अनंतम्। मनुष्य के अनंत रूप का परिचय उसके प्रकाश के निरंतर प्रयत्नों में मिलता है। इस प्रकाश की कामना में केवल अपने प्रकाश की संकीर्णता नहीं होती, दूसरों के अस्तित्व पर आस्था और बहुतों से अपना मेल—इसकी मूल बात है, क्योंकि अनंतम् का गुण अद्वैतम् है। एक के अस्तित्व का प्रमाण इसी में है कि अनेक है, हम हैं और और-और लोग भी हैं। इसलिये अनंत रूप के अनुसार मनुष्य की कामना तो इतनी व्यापक हो जाती है कि विश्व के साथ एकात्मबोध की उच्चभूमि पर पहुँच जाती है। यह मनुष्यमात्र का स्वभाव है। सब को वह दैवी वरदान तो नहीं मिला कि काव्य की दुर्जय प्रतिभा, सृजन की दिव्यशक्ति हो। किन्तु आत्मविस्तार की कामना मनुष्य को स्वभावतया मिली है। अपने उस अनंत रूप के कारण बहुतों में अपने को बिखेर कर अपने अस्तित्व को वह व्यापक और अमर बनाना चाहता है। अशोक ने इसी आकांक्षा से अपने धर्मोपदेश पहाड़ों पर खुदवाये थे, मनुष्य इसीलिये वंश-वृद्धि द्वारा अनंत जीवन-स्रोत में अपना भी कोई प्रदीप छोड़ देता है; शाहजहाँ ने इसीलिये ताजमहल की शक्ल में काल के भाल पर वेदना का एक अश्रुबिंदु छोड़ दिया था—अमिट, अमर।

यहूदी पुराण में भी एक स्थान पर आया है, कभी मनुष्य अमृतलोक का वासी था। चूंकि वह स्वर्गलोक था, इसलिये वहाँ न तो था दुःख, न थी मृत्यु, लेकिन जिसे हमने दुःखों से, बुराई के संघातों से जीता नहीं, वह भी क्या स्वर्ग! गर्भ में रहते हुए माँ को पाना जैसा नहीं पाना ही है, वैसे ही स्वर्ग में रहकर स्वर्ग को पाना नहीं के बराबर है। स्वर्ग को उसके विच्छेद में पाना ही दरअसल पाना है।§

शैशवावस्था में भी अस्तित्व तो होता है, इसलिये वह सत्य ही है। किंतु ज्ञान उस शांत स्वरूप में द्वन्द्व उपस्थित करता है—जीवन-मृत्यु का द्वन्द्व, ग्लानि-व्यथा का द्वन्द्व और तब उस संघर्ष पर विजय की प्राप्ति के

§ 'आत्मपरिचय'—रवीन्द्रनाथ

बाद मनुष्य के अनंत स्वरूप की प्राप्ति, अद्वैत अवस्था की सिद्धि होती है, जहाँ सारी दूरी, सारा वैर विरोध लुप्त हो जाता है। यही आनन्द की स्थिति है। साहित्य में जीवन का स्वरूप ऐसा ही होता है। इसीलिए साहित्य की मर्म-वाणी सत्य, शिव, सुन्दरम् यानी जीवन की परिपूर्णता है। वैदिक गाथा में देवत्रयी का उल्लेख है, जो एक दूसरे के पूरक हैं। वरुण, मित्र और अर्यमा। एक का गुण प्रतिष्ठा, दूसरे का सामंजस्य और तीसरे का है शक्ति। कवि की प्रतिभा में इन तीनों रूपों का अवस्थान है और इसीलिये काव्य जीवन की पूर्णता का रूप है। इस रूप प्रकाश की मर्मवाणी अनंत रूप की द्योतिका है, जैसा कि रवीन्द्रनाथ ने कहा है—साहित्य में मिलने का एक भाव देखा जाता है, वह केवल भाव-भाव का, भाषा भाषा का, ग्रंथ ग्रंथ का ही मिलन नहीं, किंतु मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का, अत्यन्त अन्तरंग मिलन साहित्य के अतिरिक्त अन्य किसी से संभव नहीं।

इस प्रकार के अद्वैत भाव का एक मंत्र ऋग्वेद में भी आया है—हे इन्द्र, तुम्हारा कोई शत्रु नहीं, कोई नायक नहीं, कोई बन्धु नहीं—फिर भी प्रकाश के समय योग से बन्धुत्व की कामना करो।*

काव्य मनुष्य की आत्मा का ऐसा ही प्रकाश है। विराट् जगत् और महाजीवन के आनंद को शब्दों के रूप में स्थायित्व और व्यापकता देना काव्य है। ऐसा काव्य निस्संदेह छंदों की सुषमा से, प्राणों की चेतना की दीप्ति से, आदि-अंत की समग्रता के लावण्य से, जीवन मृत्यु के आनंद से अखंड सौन्दर्य की महिमा से मंडित होता है। पिछले युग में कला में यह जीवन दृष्टि नहीं थी, उससे उस दृष्टि की अपेक्षा भी नहीं की गयी थी। आज कला का भी जीवन दृष्टि संपन्न होना जरूरी माना गया है, काव्य की महत्तर मान्यतायें उसे भी दी गयी हैं, वह भी हमारे अनंत रूप का ही प्रकाश मानी गयी है। ऐसी स्थिति में काव्य और कला के बीच की वह दूरी दूर हो गयी है—टाल्सटाय कहते हैं, कला मनुष्यों में भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का द्वार है। यह तो वही मर्मवाणी है, जो साहित्य की है। अतः कला और काव्य को एक कर देने में कोई अशुभ की संभावना तो नहीं होनी चाहिये। इधर काव्य को कला मान कर जो साधना हुई है, उससे ऐसा कोई अमंगल भी तो नहीं हुआ। इस विज्ञान युग में भी कला मानी जाकर

* अभ्रातृव्यो अनात्वमनापिरिन्द्रजनुषा।

ाविता की कोई क्षति नहीं हुई, वह उत्तरोत्तर विकास की ओर ही बढ़ रही है।

सभ्यता के उन्नयन के साथ कविता का ह्रास होता जायगा, यह आशंका [काले ने प्रकट की थी, जो भौतिकता की इस उन्नत अवस्था में निर्मूल ी साबित हुई। निर्मूल साबित होना अनिवार्य भी था। देह और मन, ानुष्य इन दो का बना है। सभ्यता प्रयोजनों के जिन पायों के कन्धों पर ड़ी है, वह सब कुछ दैहिक दासता की ताड़ना से बने हैं : किन्तु जहाँ हमने ीने की जलती हुई समस्या के समाधान के लिये प्रयोजन-सामग्रियों की भीड़ ागायी है, वहीं हमने शिल्प-साहित्य के अप्रयोजन का भी बड़ा ही विपुल प्रायोजन किया है। 'अप्रयोजन' जो कहा, वह कुछ अपनी मान्यता नहीं, सामान्य धरातल का विचार है। जो साड़ी को मानते हैं, कोर को उसका अंग न मानकर अनावश्यक शृंगार मानते हैं, जो मोती को इसलिये त्याग सकते हैं कि वह बेर नहीं है, ऐसे देहसर्वस्व लोग, जिन्होंने प्राकृतिक दासता को ही एकमात्र सत्य और सर्वस्व मानकर उसके अभिशापों को अंगीकार कर लिया है, सभ्यता को एकांगी और एकमुखी ही मानते हैं। जीवन को देखने का एक ही दर्पण उनके पास है और वह है स्थूल प्रयोजन; मन को जीवन से वे दूर और भिन्न-सा मानते हैं। किन्तु स्वयं सभ्यता अपनी एकांगिता कबूल नहीं कर सकी। देह के साथ उसने मन को भी कबूल किया, साड़ी के साथ कोर को भी उसने मान लिया, खान-पान के साथ आनंद को भी उसने माथे चढ़ाया।

उपनिषद् में एक कहानी आती है। याज्ञवल्क्य जब वाणप्रस्थ ग्रहण करने को तैयार हुए, तो उन्होंने अपनी दोनों पत्नियों—कात्यायनी और मैत्रेयी—को बुला कर अपनी भौतिक सम्पत्ति का बँटवारा कर देना चाहा। उपनिषद् में यह नहीं कहा गया है कि कात्यायनी ने क्या किया, क्या कहा। हाँ, मैत्रेयी ने पूछा—क्या इन वस्तुओं से मुझे अमरत्व मिल सकेगा? याज्ञ-वल्क्य ने कहा—नहीं, अमरत्व नहीं मिलेगा। सम्पत्ति से अन्य दस लोग जैसे सुखी रहते हैं, तुम भी वैसे ही सुखी रह सकोगी। मैत्रेयी ने साफ-साफ इनकार कर दिया—तो फिर ऐसी सम्पत्ति का क्या करना, जिससे मुझे अमरत्व नहीं मिलेगा।

सच पूछिये, तो कात्यायनी और मैत्रेयी हमारी सभ्यता की दो मूर्त्तियाँ हैं। कात्यायनी देहसर्वस्वसभ्यता का प्रतीक है, जो प्रयोजन के भौतिक साधनों तक ही सीमित है। मैत्रेयी सभ्यता के उस रूप की विजय-घोषणा है, जिसने देहसर्वस्वता पर मन की वाणी के मूल्य और महत्व को भी

माना। सभ्यता चाहे कोई भी हो, हमारे प्रयोजन और विलास के साधनों की श्रीवृद्धि ही उसका कृतित्व होता है। जिन वैज्ञानिक आविष्कारों में मनुष्य के मस्तिष्क और बुद्धिबल की अपराजेयता पर हमें विस्मय-चकित रह जाना पड़ता है, वे आविष्कार क्या हैं, प्रयोजन और विलास के उन्नत कौशल। उसका बाहरी रूप जितना जगर-मगर हो, उसकी भीतरी बात उतनी ही छोटी है। पक्षी जिस ताडना से घोंसला बनाता है, दीमक और चींटियाँ जिस कारण सुरंगें खोदती हैं, बाज चिड़ियों और मकड़ी मक्खी का जिस कारण शिकार करती है, उसी कारण से मनुष्य ने रेल, तार, बेतार, जहाज, हवाईजहाज या और भी ऐसे अन्य साधन बनाये हैं। इसका ढिंढोरा जितना पीटा जाय, इसके गर्व की ध्वजा जितनी भी फहरायी जाय, इसमें हमारी हार की ही दीनता है। यह कात्यायनी (राक्षसी) सभ्यता है। क्या देह ही मनुष्य का पूर्ण परिचय है? क्या प्रयोजनों में ही मनुष्यता का सर्वांगीण रूप प्रकट हुआ है? मैत्रेयी ने इसके विरुद्ध बगावत का झंडा खड़ा किया, भौतिकता की ताडना को ही सर्वस्व मानकर घुटने नहीं टेके। सभ्यता की उसी मैत्रेयी मूर्त्ति के प्रसाद हैं, साहित्य, शिल्प, संगीत, चित्र, मूर्त्ति। प्रयोजनों के बिना मनुष्य जी नहीं सकता यह ठीक है, परन्तु अप्रयोजनो के बिना भी मनुष्य नहीं रह सकता। इसी अप्रयोजन का जो प्रयोजन है, वही कला है। वह एक ऐसी सृष्टि है, जो विचार की अपेक्षा रखती है। साधारणतया सृष्टि को अपने लिये विचार का प्रयोजन नहीं, सृष्टिकार्य के अतिरिक्त उसका और कोई उत्तरदायित्व नहीं होता। विधाता रचना करता है, रचना के अतिरिक्त और कुछ कहना उसका उत्तरदायित्व नहीं। किन्तु मनुष्य को उसके स्वरूप, सत्य और रहस्य को समझने की इच्छा होती है, इसीलिये काव्य, विज्ञान, दर्शन द्वारा उसकी नित्य नयी व्याख्या प्रस्तुत हो रही है। इन व्याख्याओं से मूल सृष्टि का कुछ बनता बिगड़ता नहीं। औरों के लिए वह सुगम और बोध्य होती है। कला के लिये भी कला की व्याख्या आवश्यक नहीं, वह तो जिस रूप में प्रकट हुई वही उसका एक और चरम रूप है। अपने लिये उसको सहज और सुबोध करने के लिये ही हम उसका विचार करते हैं—यही कला विचार है। आगे हम यही करेंगे।

कला की परिभाषा

पहले सूत्र और तब व्याख्या —विषय विचार की यही शास्त्रीय परिपाटी रही है। सूत्र अर्थात् सूचनामात्र, थोड़े में कहना।* और व्याख्या के मानी है विस्तार से विषय-बोध, विश्लेषण नहीं : कम से कम काव्यकला के लिये व्याख्या का तात्पर्य विषय का सच्चा और सहज परिचय लेना ही आवश्यक है, इसलिये कि यह सृष्टि है। सृष्टि का परिचय उसका आंगिक विश्लेषण नहीं होता, वह समग्रता के स्वरूप बोध में निहित है। इसीलिये व्याख्या का अभिप्राय तात्त्विक विवेचन नहीं। तत्वगत विश्लेषण भिन्न-भिन्न उपादानों की मानों वैज्ञानिक विवेचना है, जैसे नश्तर की मेज पर चीर-फाड़ के द्वारा शरीर-तत्व का ज्ञान। किन्तु सृष्टि अपने अंशों के आनुपातिक मूल्य से बहुत बड़ी वस्तु है, सिद्धान्तों के बटखरे से उसका वजन और वजन के अनुसार उसका मूल्यांकन नहीं हो सकता। विधाता ने अपनी रचना में सृष्टि और निर्माण, दोनों ही पहलुओं का परिचय दिया था। किन्तु निर्माण के क्रम-विवरण और इतिहास को उसने भूगर्भ के नाना स्तरों में ढँक दिया। और, जो उसकी रचना है, जिससे उसे सृजन का विशुद्ध आनंद मिला, उस प्रकृति पर उसकी आनंद-लीला का प्रकाश-कौतुक प्रतिनियत जारी है। निर्माण और सृष्टि, दोनों एक ही वस्तु नहीं। दोनों में रूपगत समानता तो शायद हो भी, स्वरूपगत एकता नहीं है। निर्माण प्रयोजन से होता है, सृष्टि आत्मा के अहेतुक आनंद की प्रेरणा से। सृष्टि की चरम बात उसका अच्छा या बुरा लगना है। इसमें लाल को लाल नहीं बताना पड़ता, यह कहीं आसान काम था। सृष्टि द्वारा अच्छे को अच्छा बताना पड़ता है, जो जरा कठिन काम है। रवींद्रनाथ ने इसीलिये कलाकार को सबसे अरक्षित और असहाय जीव कहा है। विज्ञान सत्य और मिथ्या का विचारक है। लिहाजा व्यक्तिविशेष के निर्णय की कसौटी अगर निश्चित मान्यता से अलग होती है, तो सर्वोपरि अदालत में उसकी अपील की सुनवाई हो सकती है। लेकिन अच्छे-बुरे के बारे में

---

* स्वल्पाक्षरं सन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रकृतो विदुः॥

अपील की भी जाय, तो वह किसी के भी द्वारा आसानी से खारिज कर दी जा सकती है, क्योंकि वह रुचि-निर्भर निर्णय होता है।†

अतएव कला को उसकी एकरूपता की समग्रता में देखना या समझना ही मुख्य बात है। इसीलिये हमने व्याख्या और विवेचन के बीच एक दुबली लेकिन अनुल्लंघ्य रेखा खींच देने की जरूरत समझी। मसलन एक पेड़ की बात लीजिये। जड़, शाखा, पत्ते—ऐसे अनेक उसके अंग हैं। असंख्य जड़ों की जीभ से वह मिट्टी के अंतर से प्राण शक्ति खींच कर जीवित रहता है। पेड़ का यह भी एक रूप है। किन्तु पेड़ न तो अपने अंग अंग में है, न केवल जीवन-धारण की उस शक्ति में। अपने अंग और प्राण शक्ति, इन सब की संपूर्णता में जिस एक अखंड रूप का प्रकाश है, वास्तव में वही पेड़ है। उसमें वस्तु, शक्ति और रूप की सत्ता ऐसी एकाकार है कि अलग अलग उसका विवेचन संभव होने पर भी उस रूप में उसका वह सच्चा परिचय नहीं हो सकता। विवेचन और व्याख्या में वही अंतर है, जो ज्ञान और बोध का हो सकता है, विवेचन ज्ञान का और परिचय बोध का दान है। दोनों के इस विभेद की सूक्ष्मता को समझाना आसान नहीं, वह समझने ही की चीज है। कला को भी हम सिद्धान्तों, तर्कों और नियमों के घेरे में रख कर नहीं जान सकते, उसकी पहचान तो उसी के आनंद में डूब जाने पर हो सकती है। रवींद्र की एक कविता का आशय यहाँ लिख दें—कवि बन्द कमरे में सौंदर्यशास्त्र के गुरु ग्रंथों के अध्ययन में तल्लीन है। उसकी गुत्थियाँ एक पर एक उलझन पैदा करती जाती हैं और जिस सौंदर्य की खोज में वह स्वाध्याय तपस्या चल रही है, वह सौंदर्य और भी अस्पष्ट होता जाता है, कि कवि सहसा खिड़की खोलकर उसके सामने खड़ा हो जाता है। पूर्णिमा की रात। टहटह चाँदनी लावा की तरह फूट रही है, लगता है, पृथ्वी की सारी श्यामलिमा गलित रजत के अनंत पारावार में तिर उठी है। और कवि को लगता है, मैं भी क्या पागल था, ग्रंथों के ढेर में से सौंदर्य का दाना बीनने चला था। अरे, वह तो यह रहा, यहाँ!

फलस्वरूप कला की पहचान तो उसके आनंद में रम जाने में, उन कृतियों के मर्म में तल्लीन हो जाने से ही हो सकती है। प्रत्येक पाठक, श्रोता या दर्शक से कलाकृतियों का जैसे एक मौन आवेदन हो, जैसे वे कह रही हों कि मुझे देखो, मुझे पहचानो। क्योंकि ये कृतियाँ स्वयमेव स्वर,

---

† 'साहित्येर पथे'—रवींद्रनाथ।

रेखा या शब्दों के स्मृति-तीर्थ हैं। मनुष्य ने जहाँ भी आनंद को पहचाना वहीं उसने किसी न किसी रूप में स्मृति-चिह्न अंकित कर दिया, जो साहित्य-कला के प्रत्येक तीर्थयात्री से पुकार कर यही कह रही है कि मैं यहाँ हूँ, मुझे देखो। समय के अनंत स्रोत के किनारे ये कलाकृतियाँ मानों पक्के के बने घाट हैं, जिन पर मानव-यात्रियों के घड़ी भर रुकने-टिकने का एक परम आत्म-संतोष है। इसीलिये युक्ति-तर्कों द्वारा कला-विवेचन का आजतक जैसा प्रकांड आयोजन हुआ, उसके बजाय विचारकों ने यदि इतना ही कहा होता कि उन्हें कला क्षेत्र मे क्या अच्छा लगा और क्या नहीं, तो मानव-संतति शायद अधिक उपकृत हुई होती। क्योंकि इतनी विशद विवेचना, शास्त्रों के ऐसे समुद्र-मंथन और नियमों की नित नयी उद्भावना के बाद भी ऐसा कोई सरल, सुगम और संक्षिप्त उपाय लोगों के हाथों नहीं दिया जा सका, जिससे कि सुगमता से तथा शुद्ध रूप में कला की प्रतीति हो सके। टाल्सटाय ने शुरू से अखीर तक कला-विचार के सभी सिद्धान्तो का मनन-चिंतन किया और अंत में उन्हें यह स्वीकार करना पड़ा कि पुस्तकों का पहाड़ जमा करके भी यह संभव नहीं हो सका कि कला की कोई निश्चित परिभाषा दी जा सके।* लेकिन परिभाषा की दिशा में प्रयत्नो का अंत नहीं है। बहुत-से विचारकों ने अपने-अपने ढंग से कला की परिभाषा देने की चेष्टा की है। अतः संक्षेप में उन पर विचार कर लेना अनुचित न होगा।

कला विषयक विशद विवेचना का श्री गणेश महज १८ वीं शती में हुआ है। इसी समय कला को ललितकला की एक विशिष्ट श्रेणी, उसको नया रूप, नया अर्थ और नयी मान्यता दी गयी। भारत में बहुत पहले कला कारीगरी या कौशल मानी जाती थी। पाश्चात्य देशों में भी १८ शती के पूर्व तक कला के लिये लोगों के लगभग ऐसे ही विचार थे। ग्रीक और लैटिन में कला के जो मूल शब्द हैं, वे वास्तव मे कारीगरी के ही पर्यायवाची हैं। फ्रांस और जर्मनी में भी उन दिनों कला का तात्पर्य कौशल ही था। सम्भवतः अरस्तू ने ही सर्वप्रथम काव्य को कला के अन्तर्गत माना अन्यथा भारतीय दृष्टिकोण के अनुरूप उन देशों मे भी काव्यकला से अलग कोटि में गिना जाता था। १८ वीं सदी से अब तक कला के जानें कितने शास्त्र रचे गये, किन-किन रूपो से उस पर विचार किया गया और जानें कितनी परिभाषायें उसकी गढ़ी गयीं।

---

* व्हाट इज़ आर्ट।

'फाइन आर्ट्स' ही आजकल मूलतः कला के लिये व्यवहृत होता है और अपने यहाँ उसे 'ललितकला' कहा जाने लगा है। अपने प्राचीन ग्रंथों में इस शब्द का प्रयोग कहीं नहीं मिलता। 'रघुवंश' में कहीं 'ललिते कला विधौ' का उल्लेख आया है। इस पर से कुछ लोगों ने इसे आज को 'ललितकला' का समानार्थक सिद्ध करने का प्रयास किया, किन्तु चूंकि दोनों के अर्थ में मूलतया प्रभेद है, इसलिये वह बात मान्य नहीं हो सकी। आधुनिक ललितकला का जो आशय है, उस आशय के अनुरूप एक परिभाषा 'शिवस्वरूप विमर्शिनी' में क्षेमराज ने दी है।† 'कलयति स्व स्वरूपावेशेन तत्तद्वस्तु परिच्छिनत्ति इति कला व्यापार।' इसके साथ यह टिप्पणी भी है×—कलयति, स्वरूप आवेशयति वस्तुनि वा तत्र तत्र प्रमातरि कलनमेव कला—यानी नव-नव स्वरूप प्रथोल्लेखशालिनी संवित् वस्तुओं में या प्रमाता म स्व को, आत्मा को परिमित करती है, इसी क्रम का नाम कला है। स्व का कलन करना यानी आत्माभिव्यंजना। इसी विचार क्रम का एक श्लोक 'मेदिनी कोष' में भी मिलता है।+ किन्तु इस विचार-परम्परा की कोई एकसूत्र कड़ी नहीं मिलती अतएव प्रामाणिक तौर पर इसकी सर्वमान्यता की दुहाई नहीं दी जा सकती। लेकिन इतना तो निर्विवाद है कि यह परिभाषा आधुनिक कला विचार के बहुत समीप और परिष्कृत है। कला को आत्माभिव्यक्ति अनेक लोगों ने माना है, जिस पर विस्तार से आगे विचार किया जायगा।

कला की जितनी परिभाषायें प्राप्त हैं, उन्हें विचार की सुविधा के लिये हम पाँच श्रेणियों में विभक्त कर ले सकते हैं। विभाजन से ये श्रेणियाँ होंगी—(१) कला अनुकरण है, (२) कला आत्माभिव्यक्ति है, (३) कला भावनाओं को दूसरों पर प्रतिष्ठित करने का साधन है, (४) कला सौंदर्य-साधना है और (५) विविध।

कला प्रकृति का अनुकरण है, इस मत के सशक्त पोषक यूनानी विचारक थे। प्लेटो के शिष्य और ख्यातिलब्ध विचारक अरस्तू ने भी कला को अनुकरण ही कहा। उन्होंने लिखा, सभी प्रकार के काव्य, नाटक, वेणु-वादन, तन्त्रीनाद

---

† काव्य-दर्पण—रामदहिन मिश्र।

× काव्य, कला तथा अन्यान्य निबंध—प्रसाद

+ 'विना कला स्यात्मूलैरवृद्धौ शिल्पादावंश मात्रके।
पोडशांशे च चन्द्रस्य कलना काल मानयो ॥'

आदि मूलतया अनुकरण ही हैं।§ 'चित्रसूत्र' में नृत्त-चित्र आदि कलाओं में अनुकरण का स्वीकार किया गया है।$ अरस्तू ने इस अनुकरण के प्रतिपादन के लिये चित्रों से उसकी (काव्य की) समता दिखायी है। उनके अनुसार विशिष्ट काव्य के वही गुण होंगे, जो गुण किसी अच्छे चित्र के होंगे। अन्तर केवल साधन, विषय या अनुकरण का होगा। अनुकरणकारी कवि के लिये उन्होंने तीन विषयों मे से एक का अनुकरण करने का निर्देश किया है—वस्तु जैसी थी या है, वस्तु जैसी होने योग्य सोची या कही गयी है अथवा वस्तु को जैसा होना चाहिये।* किन्तु अपने काव्य-सिद्धान्त में अरस्तू आदि से अन्त तक इसी एक निश्चय पर अटल नहीं रह सके, प्रकारान्तर से उन्होंने कवि की उस रचना-शक्ति को कबूल किया, जो वास्तव में रचना को अनुकरण नहीं रहने देती। उन्होंने यह माना कि काव्य के क्षेत्र में दो ही तरह के लोग रहते हैं, या तो प्रतिभाशाली और या पागल। इस प्रतिभा को स्वीकारने का अर्थ कल्पना के जादू को कबूल कर लेना है; किन्तु चूँकि उस समय कल्पना के भाव को जाहिर करने का कोई शब्द संभवतः नहीं था, इसीलिये अरस्तू के काव्य-शास्त्र में आदि से अन्त तक उसकी वर्तमानता नहीं है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि तब के यूनान में कल्पना की स्थिति ही नहीं थी। यूनानियों मे कल्पना का वैचित्र्य बहुत ज्यादा था, किन्तु उसकी गतिविधि का विश्लेषित स्वरूप वे सामने नहीं रख सके थे। स्वयं अरस्तू ने कल्पना का भावबोधक कोई शब्द प्रयुक्त जरूर नहीं किया, किन्तु कल्पना के जो गुण और अर्थ हैं, काव्य के लिये उसे उन्होंने माना। एक जगह उन्होंने लिखा, कुछ कवि मनुष्यों को उससे श्रेष्ठतर स्थिति में चित्रित करते है, जैसे कि वे वास्तविक में हैं और ग्रौक्सेस की उन्होने भरपूर तारीफ की, जिसने कि हेलेन के मुख की सुन्दरता के वर्णन में अन्य कई खूबसूरत मुखड़ों के रूप को समाविष्ट किया है। लिहाजा अनुकरण के यथायथ के ऊपर

---

§ एपिक पोइट्री, ट्रेजिडी, कॉमेडी ऐज आलसो फॉर दि मोस्ट पार्ट, दि म्युजिक ऑफ दि फ्लूट ऐण्ड ऑफ दि लायर—ऑल दीज़ आर, इन दि मोस्ट जेनेरल व्यू ऑफ देम; इमिटेशन.···पोएटिक्स।

$ यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृतिः स्मृताः।

* दि पोएट बींग ऐन इमिटेटर ...मस्ट ऑफ नेसेसिटी इमिटेट वन् ऑफ दि थ्री आब्जेक्ट्स—थिंग्स ऐज़ दे वेयर ऑर आर, थिंग्स ऐज़ दे आर सेड् ऑर थॉट टुबि, थिंग्स ऐज़ दे ऑट टु बि।

काव्य में और भी विशेषता हो सकती है, इसे तो उन्होंने स्वीकार ही किया है। यही नहीं, और आगे वे कहते हैं—काव्य का सत्य वास्तव में यथार्थ की नकल नहीं है, उच्चतर यथार्थ है, जो या जैसा है वह नहीं, बल्कि जिसे जैसा होना चाहिये।†

अरस्तू से पहले सुकरात और अफलातून ने भी अनुकृति वाली यूनानी परम्परा में नये विचार की एक कड़ी जोड़ी थी। सुकरात ने स्पष्टतया स्वीकार किया कि केवल दृश्य का ही नहीं, अदृश्य का भी अनुकरण हो सकता है और इस तरह प्रकृति की नकल के ऊपर उन्होंने भावों और विचारों की भी स्वीकृति दी। अफलातून ने भी प्रतीक-व्यंजना को कला में माना है। उन्होंने संगीत के स्वरों में मानवी सुख-दुःख के व्यक्तीकरण को भी मान कर कला को केवल प्रतिकृति-स्थापना स्वीकार नहीं किया, बल्कि कला की एक प्रातिस्विक सत्ता मानी अर्थात् प्रकृति के प्रतिबिंब का प्रतिबिंब। जैसा कि नाटक के लिए एक भारतीय विचारक ने कहा है—तत्र नाटक नाम लौलिक पदार्थ व्यतिरिक्त तदनुकार-प्रतिबिंब यानी नाटक सम्पूर्णतया नकल या प्रतिबिंब नहीं है, बल्कि लौलिक पदार्थ से भिन्न अनुकरण का प्रतिबिंब स्वरूप होता है। अरस्तू के बाद प्लाटीनस ने कला को जड़ प्रकृति से ऊपर उठाया। उन्होंने बताया, प्रकृति दिव्य विचारों की जड़ अभिव्यंजना है। कलाकृति में उसकी महज नकल नहीं होती, बल्कि एक विशेषता होती है कि उसमें अदृश्य विचार भी रूप पाते हैं। प्रकृति और कलाकृति मूलतया समानांतर हैं, दोनों एक ही उद्गम से निकलती हैं।

नाटक की आलोचना में भारतीय विचारकों ने भी अनुकरणवृत्ति का जिक्र किया है। जैसे, भरत—*लोकवृत्तानुकरणम् शास्त्रमेतन्मयाकृतम्।* दण्डी—अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्। लेकिन इस अनुकरण से हू-बहू नकल का अभिप्राय कहीं नहीं लिया गया है, बल्कि कवि की प्रतिभा की महत्ता मानी गयी है, जहाँ उसने अनुकरण का सहारा लिया है। सृष्टि के साथ कवि का हृदय योग तीन तरह से होता है अनुकरण, अनुसरण और संग्रहण, जिनमें अनुकरण हेय माना गया है। किसी हद तक उसकी छाया का स्वीकरण तो है—छायामनुहरति कवि।

† दि ट्रुथ ऑफ पोइट्री इज नॉट ए कॉपी ऑफ रियलिटी बट ए हायर रियलिटी, व्होट् ट्रु बि, नॉट व्हाट इज। प्रोबेबुल इम्पोसिबिलिटीज आर टु बि प्रेफर्ड टु इम्प्रोबेबुल पासिबिलिटीज। (पोएटिक्स—बूचर का अनुवाद)

भारतीय विचारक स्पष्टतया उस संशय में कभी न रहे, जिसमें कि अफलातून सुकरात, अरस्तू आदि के अनंतर यूनानी सौंदर्यशास्त्री रहे। बाद के विद्वान् स्टाइल क्रिसिप्पस ने फिर उसी अनुकरण की दुहाई दी। कहा—विश्व ही केवल पूर्ण है, मानव अपूर्ण, इसीलिये अपने को पूर्ण करने के लिये मानव विश्वप्रकृति का चिंतन और अनुकरण करता है। ईसाई विचारक लीवनिज और बामागार्टन (१७१४-१७६२) भी विचारों की अस्पष्टता में ही बहते रहे। लीवनिज ने तो कला के तथ्यों को अस्पष्ट ही माना। बामागार्टन ने तथ्य दो माने—संवेदनीय और मननीय और सौंदर्य को उसने संवेदनीय तथ्य कहा। संवेदनीय तथ्य भाव रूप में सौंदर्य और विचार रूप में सत्य होता है—ऐसी उनकी मान्यता रही।† इस विचार-स्रोत से वह सिद्धान्त के इस घाट पर पहुँचे कि चरम सौंदर्य प्रकृति में निहित है और इसीलिये कला का सर्वापेक्षा बड़ा उद्देश्य प्रकृति की नकल करना है। इसी तरह इटालियन सौंदर्यशास्त्री पगानों के अनुसार प्रकृति के बिखरे हुए सौंदर्य का चयन करना कला है। गर्ज कि विचारकों की एक बहुत बड़ी जमात ने घूम-फिर कर यही परिभाषा दी कि कला प्रकृति की अनुकृति है। ऐसा नहीं कि इस सिद्धान्त की काट-छाँट न हुई हो। तब से अब तक अनेक विचारकों ने इस सिद्धान्त को अयौक्तिक साबित कर दिया है। १८ वीं शती के ही शेष दशक के एक विचारक Schnaase ने बलपूर्वक कहा—कला में जो है, वह प्रकृति में नहीं है। और तब से नाना युक्ति-तर्कों में इसकी पुष्टि होती रही है।

कला अनुकरण नहीं है, किसी हद तक अनुसरण हम उसे कह सकते हैं। एक उदाहरण दें। ऐतरेय ब्राह्मण के ऋषि ने कहा है—एतेषां वै शिल्पानाम् अनुकृतीह शिल्पम् अधिगम्यते। लेकिन इस अनुकृति के लिये अनुप्रेरणा उन्होंने देवशिल्प की बतायी है—ॐ शिल्पाणि शंसति देवशिल्पाणिः। और साथ ही यह कहा है—शिल्पम् हस्मिन्नधि गम्यते य एवं वेद यदिव शिल्पाणि। अर्थात् जिन्होने कला को इस रूप में देखा है, वास्तव में वही समझ सकते हैं कि कला क्या चीज है।

इस अनुकृति से साधारणतया अनुकरण का ही अर्थ ले लिया जाता है जो कि वास्तव में उसका अर्थ नहीं। ऋषि ने कलाकार को नकलनवीस

---

† दि ऑब्जेक्ट ऑफ लॉजिकल नॉलेज इज़ ट्रुथ, दि ऑब्जेक्ट ऑफ एस्थेटिक नॉलेज इज ब्यूटी। ब्यूटी इज़ दि परफेक्ट रिकगनाइज्ड थ्रू दि सेन्सेज़ : ट्रुथ इज़ द परफेक्ट परसीव्ड थ्रू रीज़न।

नहीं कहा है। उनका आशय तो इतना ही है कि छन्द की जिस प्रेरणा से यह देवशिल्प निःसृत है, उसी अदम्य प्रेरणा से यह मानुषीशिल्प भी उद्भूत हुआ है। हकीकत में सृष्टि के पहले उसका कोई पूर्वतन रूप, जिसे हम प्रोटोटाइप कहते हैं, नहीं था। चैतन्य की इच्छा से ही सृष्टि रूपमयी हो उठी, वह किसी अन्य के अनुरूप नहीं बनी। यह मानुषीशिल्प भी और कुछ की अपेक्षा न करके देवशिल्प जैसा है। यहाँ देवशिल्प के अनुकरण के मानी देवशिल्प जैसा, उसके समान है। अर्थात् मानुषीशिल्प प्रकृति की नक्ल नहीं है। अनुकृति का तात्पर्य होता है, जैसे का तैसा, एक वस्तु जैसी है उसकी पुनरावृत्ति। ऐसी कला के लिये साधना, भावना, विचार, ऐसी किसी बात की दरकार नहीं। *समाचारपत्र की जैसे कोई रिपोर्ट हो*, किसी एक घटी हुई घटना का आक्षरिक रूप। उसमें संवाददाता की मानसिकता, उसकी कल्पना का रंग नहीं। हकीकत में क्या कला कोई ऐसी रसहीन पुनरुक्ति है? कलाकार बाह्यजगत् को आत्मसात् कर अपने हृदय के 'जारक' रस में पचाये बिना ज्यों का त्यों उसे शब्द या स्वर में उगल देता है? ऐसी कला से फिर हम क्या आहरण करते, क्या ग्रहण करते और किस बात का आनंद पा सकते हैं। प्रत्यक्ष यथार्थ तो सदा सर्वदा हमारे सामने है, अगर केवल उसी की मन को आवश्यकता होती, तो उसके ऐसे हीन शाब्दिक स्वरूप-रचना का प्रयोजन क्या था! *क्या थी उसकी उपयोगिता*! ऐतरेय के ऋषि ने कला की उपयोगिता का संकेत दिया है—आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पाणि छन्दोमयं वा एतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरुते। अर्थात् शिल्प से आत्मा का संस्कार होता है, जीवन का मार्ग प्रदर्शन होता है। ऐसे में यह सहज ही अनुमेय है कि अगर प्रकृति में ही वह आत्म संस्कारी क्षमता, मार्ग-प्रदर्शन का प्रकाश होता, तो भी उसकी नक्ल का प्रयोजन नहीं रहता, उसकी नक्ल में, आवेहूब रूप-रचना में वह हो कहाँ सकता है।

वास्तव में प्रकृति ही कला में रूप नहीं पाती, प्राकृतिक सौंदर्य कला रचना की अनुप्रेरणा भले ही होता है। यह वैचित्र्यपूर्ण अनंत सौंदर्य, जीवन की अनंत लीलायें, काल का सनातन प्रवाह और विभिन्न घात प्रतिघातों की लोल लहरियाँ द्रष्टा को भाव विभोर करती हैं, रूप, रस, गंध स्पर्श और शब्द का अविराम आनन्द स्रोत हृदय को उद्वेलित करता है और तब स्रष्टा आत्मा के ऐश्वर्य को बाहर प्रतिष्ठित करने के लिये व्याकुल होता है। किन्तु यह व्याकुलता प्रकृति का प्रतिरूप नहीं तैयार करती, बल्कि कलाकार के मन की माधुरी मिलाकर एक नया जगत् तैयार करती है जो बाहरी, बल्कि मन के

जगत् से भी, भिन्न होता है। ऐसी सृष्टि की अपनी एक प्रक्रिया है। वाह्यजगत् कलाकार के अन्तर्जगत् में प्रवेश करता है और फिर उसकी चेतना के मंत्रबल से, एक तीसरा ही जगत् बनकर प्रकाशित होता है। इस प्रक्रिया में कवि की चित्-शक्ति का वह जादू उसमें मिल जाता है, जिसे छूकर चंचल जीवन का क्षणिक सौंदर्य स्थायी हो उठता है, कोई तुच्छ मुहूर्त चिरत्व प्राप्त करता है, अन्तर के अनुभूत सत्य को सत्ता और स्थिति मिल जाती है। यह कार्य कुछ इतना मामूली नहीं कि अनुकरण से ही हो। 'पंचदशी' मे वस्तु के मानसिक रूप-विधान की प्रक्रिया बड़े सुन्दर ढंग से बतायी गयी है—वस्तुरूप ज्यों ही आँखों में आता है, त्यों ही प्रमातृचैतन्य से अन्तःकरण वृत्ति जगती है और उस प्रमेय या वस्तुरूप को अधिकृत कर लेती है और तब अन्तःकरण वस्तुरूप से तदाकार हो जाता है—मन वस्तु-रूप हो जाता है और वस्तुरूप मनोमय हो उठता है।* इस बाहर-भीतर की एकाकारता के बाद जो सृष्टि या रचना होती है, उसकी विशिष्टता स्वाभाविक है और यह काम कम टेढ़ा नहीं है। इसके द्वारा आभ्यन्तरिक वस्तु को बाहर की, भाव की वस्तु को भाषा की, तात्कालिक वस्तु को अनंत काल की और अपनी वस्तु को मानवमात्र की बनाना पड़ता है। इसीलिये साहित्यकार की इस शक्ति को रवींद्रनाथ ने 'विश्व-मानव-मन' की आख्या दी है और उसकी रचना के लिये कहा है—जगत् के ऊपर मन का कारखाना है, मन के ऊपर विश्वमन का कारखाना—इसी की मंजिल से साहित्य की उत्पत्ति होती है।† फलतः साहित्य ही क्यों, कोई भी कला प्रकृति का अनुकरण नहीं। इसलिये कि प्रकृति तो हमारे सामने प्रत्यक्ष होती है, उसमें जो कुछ भी हम देखते हैं, प्रत्यक्ष देखते हैं; कला में वह सब कुछ प्रत्यक्ष नहीं होता। कला को इस प्रत्यक्षता की पूर्त्ति के लिये कल्पना का सहारा लेना पड़ता है।

कल्पना से आमतौर से हम यथार्थ-विरोधी अर्थ ग्रहण करते हैं, यानी मनगढ़ंत, वटना-परंपरा से जिसका कोई सम्बन्ध न हो—अंग्रेजी में इसे फैन्सी-फुल या इमेजिनरी कहते हैं। संस्कृत आलंकारिकों ने इसे 'कविव्यापार' 'कविकर्म', 'कविकौशल' आदि कहा है। कल्पना अपने आधुनिक आशय में

---

* मातुर्मानाभिनिष्पत्तिर्निष्पन्नं मेयमेति तत्।
मेयाभिसंगतं तच्च मेयाभत्वं प्रपद्यते।

† साहित्य।

पहले नहीं प्रयुक्त हुई। यथार्थ में कल्पना का अर्थ है रचना, आरोप। जो लौकिक अलौकिक रूप गढ़ती हो। अभिनवगुप्त ने इसे उत्कृष्ट बुद्धि—रसावेश वैशद्य-सौंदर्य काव्य निर्माणक्षमत्व—कहा है। उनके गुरु भट्टतौत ने 'प्रज्ञा नव-नवोल्लेखशालिनी' और किसी किसी ने उसे 'लोकोत्तर' भी कहा है—अभूतपूर्व सृष्टिकारिणी शक्ति, जिसमें यथार्थ को अभिनवता, प्रकाश को अश्रुतपूर्व रूप मिलता है। जैसा कि शेक्सपियर ने कहा है—कवि अपने दिव्योन्माद घूर्णित नेत्र से कभी स्वर्ग से मर्त्य और फिर मर्त्य से स्वर्ग को दृष्टि दौड़ाता है और उस क्षण उसकी कल्पना में जो अजाने अचीन्हे भाव आते हैं, वे लेखनी की नोक पर रूप ग्रहण करते हैं और जिनका कोई नाम-रूप नहीं होता, ऐसी कोरी शून्यमय वस्तुएँ ही एक एक नाम धाम लेकर स्पष्ट हो उठती हैं।*

लेकिन क्या इससे कल्पना अलीक हो गयी, स्वप्न, निरा मनगढ़त? नहीं। कल्पना की दृष्टि वह दिव्यदृष्टि है, जो अप्रत्यक्ष यथार्थ को ही प्रत्यक्ष करती है। कीट्स ने इसीलिये दृढ़ विश्वास के साथ कहा है—कल्पना जिसकी सौंदर्य रूप में प्रतीति कराती है, वह अवश्य ही सत्य होगा, चाहे वह अज्ञातपूर्व ही क्यों न हो।† इसीलिये शेली ने कल्पना के ऐसे दान को रक्त-मांस से ज्यादा वास्तव, शाश्वत और मृत्युहीन कहा है—

> ही विल् वाच फ्रॉम डान टु ग्लूम,
> दि लेक रिफ्लेक्टेड सन इल्यूम
> दि येलो बीज इन दि आइभि ब्लूम,
> नॉर हीड नॉर सी व्हाट थिंग्स दे बी,
> बट फ्रॉम दीज क्रीएट हो कैन
> फार्म्स मोर रियल दैन लीविंग मैन,
> नर्सलिंग्स ऑफ इम्मोर्टेलिटी।

---

* दि पोएट्स आइ इन् ए फाइन फ्रेन्ज़ी रालिंग,
डॉथ ग्लांस फ्रॉम हेवन् टु अर्थ, फ्रॉम अर्थ टु हेवन्
ऐंड ऐज़ इमेजिनेशन बडीज़ फोर्थ
दि फार्म्स ऑफ थिंग्स अन्नोन, दि पोएट्स पेन
टर्न्स देम टु शेप्स, ऐंड गिव्स टु एयरी नथिंग
ए लोकल हैबिटेशन ऐंड ए नेम।

† व्हाट दि इमेजिनेशन सीजेज़ ऐज़ ब्यूटी, मस्ट बी ट्रुथ, व्हेदर इट एग्ज़िस्टेड बिफोर ऑर नॉट।

चूंकि कवि श्रेष्ठ स्रष्टा है, इसलिये उसका वर्णन मिथ्या नहीं।* वाल्मीकि को जब सहसा अनुष्टुप छन्द मिला, तो नारद ने आकर उनसे मनुष्य का स्तव लिखने को कहा और कहा—

सेइ सत्य या रचिवे तुमि
घटे या ता सब सत्य नहे। कवि, तव मनोभूमि
रामेर जनमस्थान अयोध्यार चेये सत्य जेनो।

—रवीन्द्रनाथ

अर्थात् हे कवि, तुम जो रचोगे, वही सत्य होगा। जो घटनायें घटती हैं, वे सब की सब सत्य नहीं होतीं। तुम्हारी मनोभूमि राम के जन्मस्थान अयोध्या से बढ़कर सत्य है।

इस तरह कल्पना का तात्पर्य अतिचारी कल्पना नहीं, जैसा कि अंग्रेजी साहित्य के रोमांटिक युग में समझा जाने लगा था। इस कल्पना का अर्थ वास्तव में आविष्कार ठहरता है—इन्वेन्शन। इस रूप में इसका प्रयोग माइकेल मधुसूदनदत्त ने अपने महाकाव्य के मंगलाचरण में किया भी है। यथा,

तुमिओ आइस, देवि, तुमि मधुकरी
कल्पने! कविर चित्त - फूलवन - मधु
लये रच मधुचक्र गौड़ जन याहे
आनन्दे करिवे पान सुधा निरवधि।

कल्पना को यहाँ 'मधुकरी' की आख्या देकर और कवि के चित्तवन के फूल से मधुसंचय करने को कहकर कवि ने उसकी जिस कार्य-पद्धति का संकेत किया है, वह आविष्कार-वृत्ति ही है। जहाँ तक हम समझते हैं, कल्पना को कवि की आत्मीयता कहना अधिक उपयुक्त है। क्योंकि वस्तु से तदाकारता स्थापित कर उसके आंतरिक रूप, मर्मवाणी को हृदयंगम करना पड़ता है। यह काम आत्मीयता का ही है, जिसे काव्य के क्षेत्र में, कला की दुनिया में हम कल्पना नाम से जानते हैं। इस तन्मयता के बिना अभूतपूर्व की प्रतिष्ठा सत्यरूप में हो ही नहीं सकती। कवि कीट्स ने एक जगह लिखा है, मेरी आँखों के आगे वहाँ वे चिड़ियाँ जो नाचती हुई दाने बीनती फिरती हैं, उन्हें देखते ही

---

* न कवेर्वर्णनं मिथ्या कविः सृष्टिकरः परः।
सर्वोपर्येव पश्यन्ति कवयोहन्येन चैव हि॥

—वृहद्धर्म पुराण

म अपने आप को जैसे भूल जाता हूँ, मैं भी मानों उन्हीं जैसा नाचता हुआ वैसा ही करता फिरता हूँ।

जीवन एक संग्राम है। इस संग्राम में आत्मरक्षा की सहजात प्रवृत्ति ने मनुष्यों में द्विविध सृजनकारी शक्तियों का सन्निवेश किया है—एक ज्ञान और दूसरी कल्पना। ज्ञान वह शक्ति है, जो प्रकृति और मानव जीवन का निरीक्षण, उनकी तुलनामूलक पर्यालोचना और उसकी व्याख्या कर सकती है। इस ज्ञान को भी हम चिंतन कह सकते हैं और दूसरी शक्ति कल्पना भी वास्तव में चिंतन ही है। फर्क केवल इतना है कि कल्पना का जो चिंतन है, सांसारिक मामलों में उसे रूप का, छवि का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है और इस तरह कल्पना वस्तुजगत् और प्रकृति के स्वाभाविक रूप में मनुष्य के अपने भाव-विचार, अपने दोष गुण आरोपित करने की क्षमता भी ठहरती है। इस प्रकार कला या साहित्य में वस्तुजगत् अपने सही और मूल रूप में नहीं आता, उसमें नवीनता का समावेश कलाकार की कल्पना या उसकी आत्मीयता करती है और उसके द्वारा एक अप्रत्यक्ष अगोचर दिशा भी वस्तुजगत् के साथ मिल जाती है। केवल मिल ही नहीं जाती, वस्तुजगत् का अनेकांश या तो बाद भी पड़ जाता है, या उसमें अधिकांश नया जुड़ जाता है। गोर्की ने एक जगह लिखा है कि वस्तुजगत् में किसी पात्र के वैचित्र्य पर मुग्ध होकर उसे ही अपनी रचना में उन्होंने कभी रूप नहीं दिया। एक चरित्र का निर्माण वैसे अनेक पात्रों के इस उस खासियत के संयोग से ही संभव हुआ है।† अपने एक प्रसिद्ध चित्र के बारे में किसी को रैफेल ने लिखा था कि किसी सुन्दरी का चित्र बनाने में जब मैं सुन्दर आकृतियों के आधार की न्यूनता पाता हूँ, तो लाचार मुझे अपने मस्तिष्क के काल्पनिक रूप का ही सहारा लेना पड़ता है। यही बात प्रसिद्ध चित्रकार रेनी ने अपने विख्यात चित्र 'सेंट माइकेल' का रोम भेजते समय लिखी थी—काश, मेरे भी देवदूतों जैसे पंख होते! तब मैं भी स्वर्ग में जाकर अनुपम रूपों का दर्शन करता और अपने चित्रों में उन्हें उतारता। लेकिन यह संभव नहीं और इसीलिये वैसे रूप का सादृश्य ढूँढना भी संभव नहीं। सो अपने काल्पनिक रूप का अंतर्निरीक्षण ही अपना अवलंब रहता है।

यह तो कलाकार ने विवशता का जिक्र किया है, किन्तु यह सचाई है कि वस्तुजगत् के ही मात्र आधार से कला सृष्टि नहीं होती, उसमें बहुत कुछ

† 'लिखना कैसे सीखा' शीर्षक लेख।

जोड़ना, बहुत कुछ घटाना पड़ता है और इस तरह कवि की कल्पना, उसकी आत्मीयता का संस्पर्श सर्वथा नवीन ही रचना करता है, उस रचना में प्रकृति आती भी है, तो अपने उस रूप में नहीं, जीवन के नये सांचे में ढल कर। यह कल्पना एक फैशन नहीं, कला-सृष्टि का अनिवार्य उपादान है, यथार्थ के समर्थक काडवेल तक को भी यह मानना पड़ा है। हाँ, प्रकृति कला के उद्गम की प्रेरणा जरूर है, उसकी प्राणवत्ता और समृद्धि में भी संदेह नहीं। फिर भी कला प्रकृति नहीं, प्रकृति से श्रेष्ठ है। माओ से-तुंग की उक्ति यहाँ पर उद्धृत कर दें—प्रकृति कला से अधिक प्राणवंत और तीव्र है, विषय-वस्तु की ओर से भी अधिक समृद्ध। फिर भी लोगों को साहित्य की, कला की जरूरत है, प्रकृति नहीं चाहिये। क्योंकि कला और प्रकृति दोनों के सुन्दर होने पर भी कला प्रकृति की अपेक्षा अधिक सुश्रृंखल, और भी वैशिष्ट्यमयी, एकमुखी और भावप्रधान है, इसलिये प्रकृति से कहीं अधिक विश्वजनीन।*

उपर्युक्त संदर्भों में हमने यह दिखाने की चेष्टा की है कि कला प्रकृति की अनुकृति नहीं है और न ही अवास्तव कोई भाव-स्वर्ग। जहाँ कल्पना अपने शुद्ध रूप में कार्य करती है, वहाँ चित्र और जड़, आइडियल और रियल एक कड़ी में गुँथ जाते हैं। उसमें वास्तव की वास्तविकता दिव्यानुभूति से अभिनव हो उठती है; जीवन की तुच्छता, कटुता की अतिशयता, कामना-वासना की मलिनता एक अक्षय सुषमा, असीम सौंदर्य से सज कर वास्तवता के कड़वेपन को मोहक संगीत में बदल लेती है। इसीलिये कला अनुकृति नहीं है, क्योंकि उससे, जो कुछ है, उसमें एक नवीन विशेषता का समावेश होता है। प्रकृति और कला में वही अंतर है, जो फोटो और चित्र में हो सकता है। चित्री चित्र में आत्मा के विशेष भाव को अंकित करते हैं और वह विशेष भाव कल्पना की अंगुलियों से ही पकड़ा जा सकता है। फोटोग्राफर रूप की, आकृति की महज नकल कर सकता है, वह नकल बाहर का प्रकाश तो संभवतः हो, सब समय उसका सच्चा परिचय देने में समर्थ नहीं होता। दोस्ताव्स्की ने एक जगह लिखा है, अपने फोटो में नेपोलियन बहुत समय मूर्ख और विस्मार्क करुण-हृदय लगता है! यथार्थ होते हुए भी इसीलिये फोटो अपूर्ण और अस्वाभाविक है और अंतर के अदृश्य लोक का वहिर्प्रकाश होते हुए भी चित्र कठोर वास्तव। कल्पना के सहारे स्वप्न के अप्रत्यक्ष

---

* बंगला, 'परिचय', मासिक, फागुन १३५९।

सत्य यथार्थ में, वर्ल्ड ऑफ फैक्ट्स में प्रतिष्ठित होते हैं और प्रतिमुहूर्त हम यही सोचने लगते हैं, इसे ऐसा ही होना चाहिये था, यह सदा से है और सदा सदा को रहेगा। ऐसे को असत्य कहने का उपाय भी क्या है! और यह सत्य एक चित्रित सत्ता की तरह केवल अचल रूपाधार ही नहीं होता, उसमें जीवन की गतिशीलता और जीवन की तीर्थयात्रा का पाथेय और संदेश भी रहता है। अतएव कला प्रकृति नहीं, उसकी पूरक है, उसे यह अर्थ और जीवन प्रदान करती है।

[२] प्रकारान्तर से कला को आत्माभिव्यक्ति बहुतों ने कहा है। यथा,

—प्रत्येक कला एक अभिव्यक्ति है।

—क्रोचे

—कला में मनुष्य की अपनी सत्ता का ही आविष्कार होता है।

—टॉल्सटॉय

—जिस प्रकार ब्रह्म की आत्मा का व्यक्तीकरण ही यह विश्व है, उसी प्रकार कलाविद् की आत्मा का व्यक्तीकरण तथा उसकी मूर्ति ही कलाविद् का कार्य है।

—टक्वेल (रिलीजन ऐंड रियेलिटी)

—इच्छा का काल्पनिक व्यक्तीकरण ही कला है।

—पार्कर (एनेलिसिस ऑफ आर्ट)

—कल्पना को व्यक्त करना ही कला है।

—यदेमहि च तां वाणीममृतमात्मनः कलाम्—भवभूति (उत्तर रामचरित)

—आत्मा का ईश्वरीय संगीत कला है।

—गाँधी।

क्रोचे एक सिद्धान्तविशेष के जन्मदाता रहे हैं और उनका वह अभिव्यंजनावाद विस्तार से विचार की अपेक्षा रखता है, जिस विस्तार में जाना हमारा अभीष्ट नहीं। क्रोचे की एक ही बात हमारे इस प्रकरण के लिये पर्याप्त होगी कि वे संवेदना की अभिव्यञ्जना को कला मानते हैं, अभिव्यञ्जनाओं की अभिव्यञ्जना को नहीं।*

आज बहुजनहिताय की चर्चा व्यापक हो उठी है और इसलिये स्वांतः सुखाय एक निंद्य और हीनमनोवृत्ति मानी जाने लगी है, गो कि जिन

---

* आर्ट इज दि एक्सप्रेसन ऑफ दि इम्प्रेसन नॉट दि एक्सप्रेसन ऑफ दि एक्सप्रेसन।

तुलसीदास ने 'स्वांतःसुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा' लिखा, उन्हीं ने 'उपजहिं अनत अनत सुख लहहीं' कहकर उस घेरे के सभी द्वार व्यापक वायुमंडल में मुक्त कर दिये। जो भी हो, आज ऐक्यतान की कीमत आँकी जाती है, इकतारे की तान का मान नहीं है। विचार कर देखा जाय तो ऐक्यतान विभिन्न वाद्य-यंत्रों की भिन्न-भिन्न आवाजों का एक मूल में एकीकरण है। वह भी उसके निजत्व, वैयक्तिक सुर की उपेक्षा नहीं है, एक ही अपेक्षा है कि उन सारे सुर-स्रोतों का एक सागर-संगम हो। स्वांतःसुखाय कला, जिसे आत्मनैपदी या व्यक्तिनिष्ठ कहते हैं, विचार देखिये, तो वह भी नितांत अपने लिये नहीं होती, वह व्यक्तिनिष्ठता भी मानवता के महासागर में मिलने की ही एक उदार चेष्टा है। यह माना जाता है कि अपने अनुभवों को दूसरों में जगाने या अपने आनन्द की छूत दूसरो में लगाने के लिये जो कला रची जाती है, वह परस्मैपदी है, उसका एक सामाजिक मूल्य और महत्व होता है। लेकिन सत्य तो यह है कि सब प्रकार की कला उभयपदी ही होती है। परस्मैपदी व्यक्ति द्वारा ही रचित या अभिव्यंजित होती है और आत्मनेपदी औरों के लिये ही रचित या अभिव्यंजित होती है, इसलिये बैर-विरोध की वैसी गुंजाइश नहीं, क्योंकि कला के दोनो ही पहलू हैं—व्यक्तिगत भी, सामाजिक भी। हम युक्ति-तर्कों से उनमें दूरी की जो लकीर चाहे खींच दें, अपने तईं कला इन दोनो कूलों से मेल रखकर प्रवाहित होनेवाली धारा है। व्यक्ति और समाज का यह द्वंद्व जो प्रतीयमान है, वह संस्कारिता का है। यों समाज और व्यक्ति दोनों ही संस्कारी हों तो दोनों की सत्ता अलग-अलग होते हुए भी उनमें एक अविच्छिन्नता होती है। समाज का मूल्य है, व्यक्ति का भी मूल्य है।

वास्तव में तो साहित्य का विषय व्यक्तिगत ही होता है, श्रेणी या समष्टिगत नहीं। इस व्यक्ति का यदि धातुगत अर्थ लिया जाय, तो वह होगा, व्यक्ति यानी जो अपनी निजी विशेषताओं में व्यक्त हुआ हो। यह व्यक्ति अपने जैसा आप ही होता है, अन्यत्र उसकी अनुरूपता ढूँढ़े नहीं मिल सकती। इसीको और तरह से कहें, तो विशिष्ट अभिव्यक्ति या अन्य अनेक से भिन्न व्यंजनाविशेष कहेंगे और ऐसी दशा में व्यक्ति का वाच्यार्थ नहीं रह जाता, वह अर्थ हो जाता है, व्यक्तित्व। साहित्य में इस व्यक्तित्व का प्रसार अद्भुत है। रवीन्द्र ने तो यहाँ तक कहा है कि साहित्य का व्यक्ति केवल मनुष्य ही नहीं है बल्कि विश्व की जो कोई भी वस्तु साहित्य में स्पष्ट रूप लेती है, वही व्यक्ति है, वह चाहे जीव-जन्तु हो, चाहे वन-पर्वत, चाहे भली-बुरी वस्तु।* उसे व्यक्ति रूप में हमारे

* साहित्येर पथे।

लिये प्रतीयमान, हमारे हृदय को स्वीकृत करा देने का जो गुण है, वह गुण सतोगुण, तमोगुण नहीं, कवि की कल्पना या सृष्टिकारिणी प्रज्ञा है। यह प्रज्ञा किसी वस्तु का वर्णन नहीं करती, व्याख्या नहीं करती, उसे आत्मसात् करके अपने को उसमें एकाकार करती है और उसी तन्मयता से उसके रूप को हमारी आँखों के आगे प्रत्यक्ष कर देती है। जब तक ऐसी आत्मविस्मृति नहीं होती, तब तक वह चरम अनुभूति, जिसे हम आत्मोपलब्धि, सत्यज्ञानोदय कहते हैं, नहीं हो सकती।

व्यञ्जको वा यथालोको व्यंगस्याकारतामियात्।
सर्वार्थव्यञ्जकत्वाद्धीरर्थाकारा प्रदृश्यते ॥§

वस्तुओं को प्रकाश में लानेवाला आलोक जब जिस वस्तु को प्रकाश में लाना चाहता है, तब उसी का रूप ग्रहण करता है, वही हो जाता है। इसी तरह वस्तु के स्वरूप का प्रकाशक अंतःकरण यदि वस्तुमय न हो उठे तो उसे उस वस्तु का ज्ञान हो भी कैसे सकता है? और वस्तु का स्वरूप उतना ही तो नहीं है, जितना कि आँखों के आगे प्रत्यक्षगोचर है। उसका वह अंश भी बहुत बड़ा है, जो कि इन्द्रियगोचर नहीं। अतएव उस पूर्ण-रूपता के लिये योग की, समाधि की यह स्थिति अनिवार्य होती है। पर जब तक तन्मयता और समाधि की स्थिति होती है, तब तक प्रकाश का अवकाश नहीं रहता। समाधि के अनंतर स्वाभाविक दशा और समाधि दशा के बीच जिस अन्तर का अनुभव होता है, उसी से कला का जन्म होता है।* ऐसे में समाधि से अपने व्यक्तित्व पर लौट आने के बाद आत्मा औरों के साथ अपनी खोयी हुई एकता को स्थापित करने की चेष्टा करती है—यह चेष्टा विश्वात्मैक्य और सर्वात्मैक्य भाव की अधिष्ठात्री होती है। ऐसी ही स्थिति की रचना सच्ची कला है। अतएव इस व्यक्तित्वविशिष्ट व्यंजना से आत्म-भाव की व्यापकता, समग्र मानव सत्ता में अहं का प्रसार, एक की अनेक में व्याप्ति भी होती है। इसे एक तरह से अहं का संस्कार अथवा आत्मभाव का विसर्जन कहा जा सकता है। ऐसी आत्मपरक रचना का यदि पाठकों पर प्रभाव पड़े, उसमें की भावनाओं के बहाव में वे बह चलें, तो समझना चाहिये, उसका अहं अपनी तुच्छता और संकीर्णता खो चुका है। अवश्य ऐसी प्रतिध्वनि किसी ऐसी अंतरात्मा की तो हर्गिज नहीं हो सकती, जो स्वयं

---

§ 'पंचदशी'—द्वैतविवेक

* कला—एक जीवन-दर्शन—काका कालेलकर

महत् न हो। छोटे मन से बड़ा कवित्व संभव भी नहीं। कवि की अन्तरात्मा, कलाकार का हृदय जितना ही विशाल होगा, उसका कवित्व, उसकी कला उतनी ही ऊंची होगी। फलस्वरूप कला का मूल दोष उसकी व्यक्तिविशिष्ट अभिव्यंजना नहीं होता है, दोष है कलाकार की आत्मा की संकीर्णता, उसका छोटा मन। इसलिये काडवेल ने कला को आत्मोपलब्धि की दशा माना है, व्यक्ति की विशिष्टता को भी स्वीकार किया है, क्योंकि उससे सहयोगियों के साथ भावात्मक मिलन होता है। इसलिये हैमिल्टन ने कलाकार को सौंदर्य-विलासी रूपकार कहा है और कहा है कि वह अपने अन्तर के अनुभूत सत्य को बाहर प्रतिष्ठित करता है, किन्तु उसकी आत्मपरक अनुभूति नितांत व्यक्ति-मूलक नहीं होती, क्योंकि एक ओर तो वह विशेष है, दूसरी ओर निर्विशेष। वह विशेष को निर्विशेष बनाकर वस्तुरूप में ऐसा मूर्त्तस्वरूप देता है कि वह सर्वजनसंवेद्य बन जाता है। और, इसी निर्विशेष व्यंजना को कला-सृष्टि की विशेषता बताते हुए हेगेल ने भी कहा है—विश्व-रचना में प्रत्येक वस्तु विशेष होती है, दूसरी से भिन्न, कोई भी दो वस्तु एक जैसी नहीं होती। किन्तु कला में सब कुछ का साधारणीकरण हो जाता है—सब कुछ में विशेष के बजाय सामान्य लक्षण ही प्रबल होता है।

कलाकृति का जीवन और उसकी मर्यादा इस व्यक्तित्व के प्रकाश में ही है। साहित्य में जिस मौलिकता का मूल्य है, वह वास्तव में व्यक्तित्व की विशिष्टता ही है। भाव और तत्व तो सब के हैं, सब समय के हैं। जो दुनिया कल कवियों के आगे अपनी श्री-समृद्धि लिये खड़ी थी, वही आज भी है। भावावस्था की जो तन्मयता अपेक्षित है, वह भी कविमात्र का सहज धर्म है। सत्य की भी यह लाचारी है कि बेहया की तरह बार-बार उसे एक ही रूप में प्रकाशित होना पड़ता है। लेकिन फिर भी एक ही विषय को लेकर की हुई रचना एक की दूसरे कवि से भिन्न हो जाती है। यथा,

शरत् पर कालिदास की पंक्तियाँ—

काशांशुका विकच पद्ममनोज्ञ वक्त्रा
सोन्मादहंसरवनूपुर नादरम्या।
आपक्वशालिरुचिरा नतगात्र यष्टिः
प्राप्ताशरन्नवधूरिव रूपरम्या।

फूले हुए काँस के कपड़े पहने, मस्त हंसों की बोली के बिछुए पहने, पके धान से मनोज्ञ शरीर और फुल्लकमल-मुखवाली शरद् ऋतु नयी ब्याही रूप-वती दुलहन-सी आ गयी।

रवीन्द्रनाथ की—

शरत्, तोमार अरुण आलोर अंजलि।
छड़िये गेलो छापिये माहन अंगुलि।
शरत्, तोमार शिशिर धोआ कुतले
वनेर पथे लुटिये पड़ा अंचले
आज प्रभातेर हृदय ओठे चंचलि।

शरत्, तुम्हारे अरुण प्रकाश की अंजलि मोहन अंगुलियों की छाप से तमाम बिखर पड़ी। ओस से धुले तुम्हारे कुंतल और वन-वीथियों पर लुटते हुए तुम्हारे आँचल से आज प्रभात का मन चंचल हो उठा है।

सेनापति की—

कातिक की रात थोरी थोरी सियराति सेनापति को सुहाति सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद फूली मालती सघन वन फूलि रहे तारे मानो मोती अगनन हैं॥
उदित विमल चंद चादनी छिटकि रही राम कैसो जस अध ऊरध गगन है।
तिमिर हरन भयो सेत है बरन सब मानहु जगत छीरसागर मगन है॥

एक अंगरेजी कविता का भी आशय दे दें—आधे छँटे खेत के हल द्वारा विदीर्ण गढ्ढों में शरत् सो रहा है, पोपी फूलों की गन्ध से उसका वेश जमता आ रहा है—निड़ानी ने अब तक पास के फूल-पौधों और घासों को उखाड़ कर साफ नहीं किया है।

काव्य की तरह कला के हर प्रकार में विषय एक होने पर भी अभिव्यक्ति की भिन्नता जरूर आ जाती है। चित्र के बारे में इस विभिन्नता का एक प्रसंग यहाँ उल्लेख कर देना उपयुक्त ही होगा। एक बार जापानसम्राट् ने कुछ चित्रकारों को कविता की एक पंक्ति चित्रित करने को दी, जिसका आशय था, एक घोड़ा विजेता को अक्षत पुष्पित बगीचों की राह लौटा कर ले आता है। जानें इस पर कितने रूप के चित्र आये। राजा ने पुरस्कार उस चित्र पर दिया, जिसमें धूल से लतपत घोड़े के खुर के पास एक तितली का चित्र दे दिया गया था, जो रौंदे हुए नाना फूलों के संचित रस सौरभ का सजीव संकेत था।

अमरकाव्य कम नहीं है। चूंकि वे सर्वमानव-सुलभ भाव भूमि पर प्रतिष्ठित हैं, इसलिये काल की कसौटी पर उतर आये हैं और उनका एक चिरकालिक महत्व हो गया है। आस्वादन में वे एक-से हैं, आनन्द दान में भी एक-से, किन्तु उनमें स्वरूपगत एकता नहीं है। उन्होंने क्या लिखा, इसका तो एक उत्तर शायद हो भी, पर कैसे लिखा, इसके उत्तर में एकरूपता नहीं हो सकती। अर्थात् मैटर की एकरूपता होगी, फार्म या आकृति

की नहीं। इसलिये कि प्रत्येक रचना में, यदि वह सही मानी में रचना है, तो व्यक्तित्व की विशिष्टता होगी, आत्मरूप का प्रभाव होगा। क्योंकि कवि-चित्त को आप दर्पण भी कहें, तो वैसे प्रत्येक दर्पण में आकार का, शक्ति का प्रभेद तो होगा। ऐसा नहीं होता, तो हर कवि एक वस्तु को एक ही रूप में रखता। दरअसल बहिर्प्रकृति के साथ जब अहं संयुक्त होता है, तभी सृष्टि की प्रेरणा होती है और तब सृष्टि में वह व्यक्तित्व स्पष्ट अपनी छाप छोड़ता है। इसीलिये शैली को लोगों ने मनुष्य का ही रूप माना है। स यत् स्वभावः कवि, तदनुरूपंकाव्यं—काव्यमीमांसा।

यहाँ हमारा यह आशय कदापि नहीं कि वस्तु से रूप-रचना को ही हम प्रधानता देते हैं। किसी कृति पर विचार करते समय स्वभावतया दो बातें हमारे सामने आती हैं कि कलाकार ने क्या सोचा और कैसे सोचा। रचना की मूल बात यह 'क्या' और 'कैसे' ही है। जिसमे 'क्या' ही सर्वोपरि हो, वैसी रचना को हम उत्कृष्ट नहीं कहेंगे और जिसमें 'क्या' और 'कैसे' दोनों ही समान प्रधान हों, वह रचना भी वैसी उत्तम नहीं। किन्तु जहाँ 'क्या' और 'कैसे' का बिलगाव ही मुश्किल हो, दोनों एकाकार हो गये हों, वास्तव मे वही रचना रचना पदवाच्य है। इसलिये कि रचना दोनों के घुल-मिल जाने से रसरूप हो जाती है। कला या काव्य में जिस फॉर्म या रूप को महत्त्व दिया जाता है, वह रूप वस्तु और आकृति के एकाकार हो जानेवाला रूप है—उसे काया नहीं, कांति कहें, सुन्दर मुख नहीं, उसका लावण्य समझें। काव्य मे इसी का नाम अभिव्यंजना है, अभिव्यञ्जना अर्थात् वाङ्मयी मूर्त्ति। इस वाङ्मयी मूर्त्ति में मूलतः भाव और अर्थ का कोई मोल ही नहीं, जब तक कि उससे इस वाणीरूप की प्रतिष्ठा न हो। छंद-ध्वनिमय शब्दविग्रह के अतिरिक्त भाव-अर्थ के तत्वों की रूप-रचना में कोई मर्यादा नहीं। क्योंकि काव्य या कला में हम किसी चिंतन, ज्ञान-विज्ञान के किसी तथ्यविशेष अथवा किसी तात्विक अर्थवाद का आविष्कार तो नहीं चाहते, चाहते हैं वाणीमूर्ति का निर्माण।

इसीलिये अभिव्यंजना बहुत बड़ी वस्तु है और वह यदि आत्मपरक ही हो, तो भी उसका साधारणीकरण होता है, जब उस प्रकाश में तुच्छ विराट्, क्षुद्र महान् और खंड पूर्ण हो जाता है; व्यक्ति-सत्ता समग्रता मे लीन हो जाती है। जब हम सच्ची कला की चर्चा करते हैं, तो उसके साथ हमारी यह मान्यता भी लगी होती है कि उसमें का व्यक्तित्व ऐसा ही महत् और उदार होगा, जो या तो सामूहिक चेतना में आत्मस्वरूप को, अहं को डुबो

देगा या आत्म में समग्र को समेट लेगा। लोहा पारस को छू ले या पारस लोहे को छू दे, बात एक ही है।

वाट्सडटन ने अभिव्यक्ति के दो रूप बताये हैं—एक तो गीतात्मक या आत्मपरायण और दूसरा नाटकीय। रचना-कार्य में इन दोनों की अलग अलग दृष्टि होती है। आत्मपरायण प्रवृत्ति की दृष्टि होती है आपेक्षिक और नाटकीय की निरपेक्ष—रिलेटिव विजन और एब्सोल्युट विजन। आपेक्षिक मे आत्मभाव की प्रबलता होती है, निरपेक्ष होती है मुक्त, अबाध। एक की सृष्टि तन्मय कविता है, दूसरे की प्रबन्धकाव्य। किन्तु निरपेक्ष दृष्टि के दान में भी व्यक्तित्व की छाप न हो, तो काव्य म बाँस फाँस मिसरी सब एक ही भाव बिक जायँ—अन्तर्दृष्टि का कोई मूल्य ही न हो। वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास की रचनाओं मे कवि की अपनी अपनी दिव्यदृष्टि की विशिष्टता भी है, लोक-मगल और सामाजिक भावना चाहे जितनी हो। हेगेल ने इस आत्मिकता के साकार होने को आवश्यक माना है, क्योंकि उसी में प्रत्यक्षता और वास्तविकता की नींव है। व्यक्तिमात्र के दो रूप होते हैं—एक उसका विश्वरूप और दूसरा उसका निजी रूप। इस निजीरूप में उसका आत्मधर्म सन्निहित है। आग का वह आत्मधर्म उसकी ज्वाला है, पानी की द्रवता और मनुष्य की मनुष्यता। मनुष्य की मनुष्यता उसकी आतरिक सृष्टि-शक्ति में है। सृष्टि की समग्रता म इसीलिये वैचित्र्य के सौन्दर्य की रक्षा होती है क्योंकि वहाँ वस्तु का अपना एक निजी रूप भी है। किन्तु इसी वैचित्र्य का एक समग्र रूप भी है। व्यक्ति की साधना भी उसी समग्रता मे, उसी अखड परिपूर्णता के सदा एकरस सगीत की अनन्त वेदी पर अपनी आत्ममूर्च्छना को निवेदित करती है। यहीं सीमा असीम के गले बाँह डाल देती है, एक अनेक से एकाकार हो जाता है। इसलिये कला के क्षेत्र में व्यक्ति-साधना का सुर अनुदात्त ही नहीं होता। गूयो ने बहुत ठीक कहा है कि कला सब के भाव विचार को एक धागे मे पिरो देती है और इसी के द्वारा मनुष्य आत्म के चक्कर से निकलकर सर्व-देशीयता की उन्नत स्थिति पर पहुँच जाता है।

ध्यान देने की एक बात और है। कवि का चित्त, जहाँ कि सृष्टि ढलती है, जहाँ प्रकाश की प्रेरणा का कौतुक चलता है, साधारण मानव का चित्त नहीं होता। सर्वसाधारण की चेतना मे जितना भाग (क्षेत्र) अनुभूति का होता है, आकार में वह बहुत ही सँकरा और प्रसार मे वह बहुत ही सीमित होता है। उसकी सक्रामक शक्ति इतनी तीव्र नहीं होती कि वह अपने से औरों में फैले, आत्म से समग्र की सीमा में प्रवेश करे। इसीलिये सर्वसाधारण का व्यक्तित्व

भी बड़ा सीमाबद्ध होता है। कवि की स्थिति ऐसी नहीं होती। उसकी अनुभूति बड़ी प्रसारशील, व्यक्तित्व बड़ा व्यापक और प्रेरणा बड़ी पैनी होती है। वह मनुष्यमात्र का प्रतिनिधित्व करता है, इसीलिये शेक्सपियर को किसी ने 'मानवता की प्रतिभा', और होमर को 'चिरंतन' कहा है। उस व्यक्तित्व को विच्छिन्न व्यक्तित्व नहीं कहा जा सकता। अंग्रेजी में व्यक्तित्व-बोधक दो शब्द हैं—इनडिविडुएलिटी और पर्सनैलिटी। पहले से, इनडिविडुएलिटी से हम मनुष्य की स्वरूपगत जो भिन्नता है, मन और काया को जो विशेषता औरों से पृथक् करती है—यह अर्थ ले सकते हैं, और दूसरे से उस व्यापक व्यक्तित्व का, जिसमें सभी मनुष्यों की विशिष्टता का प्रतिनिधित्व हो।

सच्चे मानी में काव्य या कला में अनुभूति के माध्यम से जो सत्ता आविष्कृत होती है, वह अहंअनुविद्ध होते हुए भी अहंनिरपेक्ष होती है। काव्य की प्रतीति रस है, सृष्टि भी रस। यह रस जिन आधारों के सहारे रूप लेता है, वह वस्तु कवि की निजस्वता की मुहर से परे हो सकती है, किन्तु जिस अभिव्यक्ति के बिना वाणी रसात्मक वाक्य या चित्र काव्य नहीं हो सकती; आकृति कला नहीं बन पाती, वह व्यंजना, वह एक्सप्रेसन तो कवि की एकांत अपनी ही होती है, जैसा कि हार्टमैन ने कहा है, वस्तु अपने तईं सुन्दर नहीं होती, कलाकार द्वारा सुन्दर में रूपांतरित होती है*। अनातोले फ्रांस ने कहा है—प्रत्येक व्यक्ति के अनुसार उसकी पुस्तक का परिणाम भिन्न होता है अथवा जैसा कि चित्री माइकेल एंजेलो ने कहा है कि कला कलाकार के हाथ में नहीं, उसके मस्तिष्क में बसती है।

फलस्वरूप कला को इसलिये आत्माभिव्यक्ति के रूप में न मानना कि उससे उसमें संकीर्णता आती है, विशेष महत्व नहीं रखता।

[२] कुछ विचारकों ने भावों की प्रेषणीयता को, अपने भावों को दूसरों में सफलता से संक्रमित कर देने को कला कहा है। यथा,

—कला भाव की उस अभिव्यक्ति को कहते हैं, जो तीव्रता से मानव-हृदय को छू सके। —फागुए।

— कलाकृति या कलावस्तु का काम दर्शकों के मन में विशिष्ट भावना

---

* शापनहोर ने वस्तु की भी सुन्दरता मानी है, किन्तु कवि के जादू को भी माना है कि—अपने में प्रत्येक वस्तु एक रूप में सुंदर है, किन्तु संसार की प्रत्येक वस्तु अनेक रूपों में भी सुंदर हो सकती है, यदि लेखनी का जादू काम करे।

को जगा देना है। —क्लाइव बेल।

—भाव के हृदययोग में कला की स्थिति है। —चार्ल्स विलियम।

—कला मानवीय चेष्टा है। एक मनुष्य अपनी उन भावनाओं को जिनका कि उसने अपने जीवन में साक्षात्कार किया है, ज्ञानपूर्वक कुछ संकेतों द्वारा दूसरों पर प्रकट करता है। उन भावनाओं का दूसरों पर असर पड़ता है और वे भी उनकी अनुभूति करते हैं। —टॉलस्टॉय

आत्माभिव्यक्ति के रूप में कला का विचार करते हुए हम उसके जिस प्रभाव और सिद्धि के निष्कर्ष पर पहुँचे, उपर्युक्त परिभाषाओं में लगभग उसी परिणाम की स्वीकृति है। अत इस पर अलग से विचार की अपेक्षा नहीं। इसका संबंध साधारणीकरण से है, जिस पर हम तरह-तरह से विचार करते आये हैं। किन्तु इसकी एक दूसरी भी दिशा है। साहित्य या कला की सिद्धि के भी दो अंग हैं—सृष्टि और प्रसार। सृष्टि का संबंध कलाकार से है और प्रसार का पाठक, श्रोता और दर्शक से। किसी भी देश को अधिक से अधिक स्रष्टा की नहीं, संस्कारसंपन्न श्रोता या दर्शक की आवश्यकता है, जिनसे साहित्य की संचित शक्ति सार्थक या चरितार्थ होती है। इसमें संदेह नहीं कि जिस देश को प्रतिभा का वरदान मिलता है, वह सौभाग्यशाली है, किन्तु जिस देश को संस्कारी दर्शकों, सहृदय पाठकों का समुदाय मिलता है, वह तो स्वर्ग ही है, क्योंकि इन्हीं दोनों के संयोग से कला की अक्षय अचूक शक्ति प्रत्यक्ष होती है, कला असाध्य साधन कर सकती है। इसलिये रचना मात्र कवि की ही सृष्टि नहीं होती, समान रूप से वह पाठक की भी सृष्टि होती है। कृष्ण ने गीता कही। जिस अर्जुन ने उसे सुना, उसे भी हम कृष्ण ही कहते हैं। इसका यथार्थ अर्थ एक ही है कि कहने सुनने वाले की रस दृष्टि एक है। कार्लाइल ने कहा है, जब हम तल्लीन होकर काव्य-पाठ करते हैं, तो स्वयं कवि हो जाते हैं। ऐसा न हो, तो उसका यथार्थ आनन्द ही नहीं मिल सकता। गायक और श्रोता, कवि और पाठक की अंतर्दृष्टि और रसदृष्टि में तदाकारता होनी चाहिये। दोनों के इस संस्कार में सामंजस्य नहीं होने से रस की प्रतीति ही नहीं संभव है। कोई कालिदास के काव्य को पढ़े और उसके वर्णित विषय उसके हृदय की पृष्ठभूमि पर न उतरे, तो उसका रसास्वादन कैसे हो सकता है। इसलिये साहित्य सृजन जैसी एक तपस्या है, साहित्य रसास्वादन पाठकों की वैसी ही एक साधना है। स्रष्टा के समान पाठक होना, सहृदय होना भी सब के भाग्य में बदा नहीं होता। इसके लिये एक स्वाभाविक संस्कार, सहृदयता चाहिये। कवि प्रतिभा की तरह जिसे स्वभाव से ही यह सहृदयता मिली है, उसकी तो

बात ही और है, किन्तु यों रस की प्रतीति के लिये अभ्यास और अनुशीलन की आवश्यकता होती है, प्रयोजन है कि पाठक-दर्शक संचित भावों में रम जाय, डूब जाय। यही रसज्ञता है, इसी को तन्मयीभवनयोग्यता कहते हैं। अभिनव गुप्ताचार्य ने जिसे—येषाम् काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीय तन्मयीभवनयोग्यता ते हृदय संवाद भागः सहृदयः—कहा है। यह सहृदयता या तो कुछ लोगों में जन्मजात होती है या अभ्यासानुशीलन द्वारा वे उसके अधिकारी होते हैं। जिस निविड़ आत्मसंयोग द्वारा दो दूर के कुल के स्त्री-पुरुष एक होकर दांपत्य का अमृत संग्रह कर लेते हैं, कवि-पाठक में उसी तदाकारता की अपेक्षा है।

कहना फिजूल है कि ऐसे सहृदय बहुत नहीं मिलते। भवभूति को इसीलिये अपनी कृति काल की अपरिसीमता पर छोड़ देनी पड़ी थी कि एक न एक दिन उसके मर्मज्ञ मिलेंगे। वास्तव में कला को जो संस्कारिता अनिवार्य है, वह कठिनता से मिलती है। चाँद आकाश पर खिलखिलाये, किन्तु उसे देख कर खिलती कुमुदिनी ही है, उमड़ता सागर ही है—सब में एक ही आवेग नहीं होता। बरसात के सजल श्यामल मेघ मीठे तो सबको लगते हैं, मगर नृत्य-पागल तो मोर ही हो सकता है। उन दोनों के हार्दिक भावों में सामंजस्य होता है। आज भी इस वांछित सहृदयता या संस्कार के विकास की अपेक्षा है। प्राचीन भारत में साहित्य, शिल्प, संगीत आदि विषयों को जीवन के साथ जड़ित कर दिया गया था। उस समय कला-ज्ञान नागरिकता के लिये अनिवार्य था और प्रत्येक सामाजिक कला-विनोदी हुआ करता था, प्रत्येक घर कलाशाला। प्रत्येक सामाजिक अनुष्ठान तथा हर उत्सव-समारोह में साहित्य-संगीत-चर्चा जरूरी थी और ऐसी सभाओं में, गोष्ठियों में उत्सवों में अनधिकारी व्यक्तियों का प्रवेश नहीं हो पाता था। सहृदय रसिक व्यक्ति ही ऐसी चर्चाओं में शामिल हो सकते थे। इसलिये प्राचीन ग्रंथों में हम नाटकों के द्रष्टा, साहित्य के पाठक, इन सबकी योग्यता का उल्लेख पाते हैं कि नाटक, शास्त्रीय संगीत, अभिनय में कैसे दर्शक चाहिए। कहा गया है कि दर्शक की इंद्रियाँ सजग हों, वह विषय का गुण-दोष समझे और सहृदय हो। जो हर्ष देख हर्षित और शोक के दृश्यों से शोकान्वित न हो, ऐसा दर्शक भी क्या! कालिदास, हर्ष आदि ने अभिरूप भूयिष्ठा और गुणग्राहिणी परिषद् का जो उल्लेख किया है, उनमें सहृदयजनों को ही दर्शक माना है। आज सामाजिकों में ऐसी रसज्ञता, सहृदयता और रसिकता का संस्कार विकसित करना अनिवार्य है। रस्किन ने तब लोगों को सजग होने का निर्देश दिया

है, तब कोई प्रतिभा आती है। केवल कलाकार ही उस धरातल तक उतर आयें कि सर्वजन सुलभ हो जायें, ऐसी तो सभावना नहीं, अपनी संस्कारिता से कला प्रेमियों को भी किसी हद तक उठना है।

[४] सौंदर्य के व्यक्तीकरण को भी बहुतों ने कला कहा है। दो एक उदाहरण दें।

—जो सत् है, जो सुन्दर है, वही कला है। —रवींद्रनाथ

—सुंदरता का व्यक्त करना ही कला है। —वरमोन लेक

कला की उत्पत्ति भी सौंदर्य बोध से मानी जाती है और कला की सिद्धि भी लोग सौंदर्य मानते हैं। इसलिये कला और सौंदर्य का स्वरूप विचार अलग किसी प्रकरण में ही करना समीचीन होगा।

[५] विविध कला परिभाषायें—

—कविता (कला) कल्पनाओं और भावनाओं की भाषा है। —हेजलिट

— मनुष्यों की क्रिया की सृष्टि ही कला है। —हेगेल

—मस्तिष्क की सृष्टिसम्बन्धी चेष्टा ही कला है। —वायरन

—हम जीवन को सार रूप में ग्रहण कर सकते हैं, ससार रूप में नहीं। जीवन के इस सार से, सत्य के इस सारल्य से मनुष्य को मिलाकर कला उसे सबसे मिला देती है। —पंत

—मनुष्य के रसात्मक भाव जब परिपक्व हो जाते हैं, तो कला के रूप में प्रकट होते हैं। —एक विदेशी विद्वान्

—कला अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है। -- अज्ञेय

इन परिभाषाओं पर विशेष कुछ कहना नहीं है। एक ही बात यहाँ संक्षेप में कहनी है कि अपर्याप्तता से कला का उद्गम हो, इसमें संगति नहीं दीखती। प्रकाश एक ऐश्वर्य है, प्राचुर्य से ही प्रकाश सभव है। जितनी थोड़ी पूजी में हमारा गुजर बसर चल सकता है, अगर अपनी उतनी ही कमाई होती है, तो वह प्रदर्शित होने का अवसर नहीं पाती, उसका शोषण तो जरूरतों में ही हो जाता है। लेकिन जिसे हम अपनी ही आवश्यकताओं का पेट भरकर नहीं चुका सकते, उसी का प्रकाश होता है। धनियों के बाग-बगीचे उनके रहने के मकान से बड़े होते हैं, उनकी अनावश्यक साज सज्जा और ठाट बाट भी लम्बे होते हैं। यह अनावश्यक चाहे हो, है उनका ऐश्वर्य ही। रवींद्र ने इस ऐश्वर्य को बड़े ढग से समझाया है कि लोहा तपते तपते जब तक दीप्त ताप की स्थिति में नहीं आ जाता, तब तक उसमें प्रकाश नहीं आता। यह प्रकाश ताप का ऐश्वर्य है। मनुष्य के जो निजी प्रयोजनों में ही

भुक्त नहीं हो जाता, जिसकी प्रचुरता को अपने ही तक समेट कर नहीं रक्खा जा सकता, जो स्वभावतः ही दीप्यमान है, मनुष्य के प्रकाश का उत्सव उसी को लेकर होता है। अर्थ में यह ऐश्वर्य है, लेकिन कहाँ? जहाँ वह हमारे एकान्त प्रयोजन को पार कर जाता है, जहाँ वह हमारी जेब में ही नहीं गुमा जाता है, जहाँ उसकी सारी किरण हमारे काले अहंकार द्वारा शोषित नहीं हो सकती, वहीं उसमें अशेष का आविर्भाव होता है और यह अशेष ही नाना रूपों में प्रकाशमान होता है। ऐसे प्रकाश की प्रकृति ही ऐसी होती है कि सबको हम बता सकते हैं कि यह मेरा है। जिस क्षण वह अशेष को वरण कर लेता है, उसी क्षण वह किसी खास अमुक की भोग्यता के मलिन सम्बन्ध से मुक्त हो जाता है।

'लिखने की प्रेरणा क्यों जगती है' इसके दो उदाहरण गोर्की ने दो पत्रों से दिये हैं, जो उनके पास दो व्यक्ति ने लिखे थे। एक पत्र एक मजदूर लड़की ने लिखा था कि—मेरी उम्र पंद्रह साल की है। इस कम उम्र में ही मुझमें लिखने की एक शक्ति ने आत्मप्रकाश किया है। इस लेखन-प्रेरणा की तह में मेरी दारिद्र्यपीड़ित थका देने वाली जिन्दगी है।

दूसरा पत्र एक सत्तर साल के बूढ़े ने लिखा कि जीवन में [illegible] अधिक समझा कि अब बिना लिखे मुझसे रहा नहीं जाता।

एक में लिखने की प्रेरणा जीवन के दारिद्र्य से आती है और [illegible] से। गोर्की ने दोनों से यही निष्कर्ष निकाला कि जिस प्रेरणा [illegible] दारिद्र्य की ऊब और विरक्ति है, उससे रोमांटिक [illegible] संभव है। इसके प्रमाणस्वरूप उन्होंने वोल्गा, साइबेरि[illegible] जातियों का जिक्र किया है, जिनका जीवन अभावों के [illegible] जिनकी साहित्यिक देन सरस सुन्दर गीत, रूपकथा, वीरों [illegible] धार्मिक उपाख्यान हैं। और, अभिज्ञता की अधिकता से [illegible] हुई है, वैसे लोगों में सच्चे साहित्यकारों के उदय की [illegible] जो जीवन को अधिक रंगीन बना कर, काल्पनिक बना [illegible]

हम जहाँ तक समझते हैं, अभावों और [illegible] अनुभूति के ऐश्वर्य की ही बात मुख्य है, जिसमें से [illegible] जग सकती है।

कला का वर्गीकरण

मोलियर ने एक जगह एक नृत्यकार और एक संगीतज्ञ के आपसी द्वन्द्व का दृश्य दिखाया है। किन्तु ऐसे द्वन्द्व या कलह का कारण स्वत कला नहीं हुआ करती। कला में विरोधिता के ऐसे अंश स्वभावतया नहीं होते। ऐसे कलह के मूल में या तो कलाकार को अपने गुण का अकारण ऐकांतिक मोह होता है या होती है अपनी कला के प्रति उसकी आत्यंतिक निष्ठा, सौंदर्य-बोध की एक देश-दर्शी दृष्टि। वास्तव में तो प्रत्येक कला एक जैसी मानुषी सृष्टि है और प्रत्येक अपने आप में पूर्ण होती है। ऐतिहासिक दृष्टि से आगे-पीछे, सार-सामग्री के हिसाब से उत्तम अधम, रूपायन के विचार से छोटी-बड़ी का भेद नहीं किया जा सकता। एक ही प्रेरणा को रूपगत पराकाष्ठा तक पहुँचाने के लिये समान रूप से स्वर, रंग रेखा, छेनी हथौड़ा या वर्ण विग्रह की साधना होती रही है और समान रूप से सब का साध्य भी एक ही रहा है। अत ऐसी जिन चेष्टाओं को भी सफलता छू गयी है, उनके बीच जाति या श्रेणी की कोई विभाजक रेखा खींचना संभव नहीं। इसीलिये रस्किन ने कहा है कि कला में जो महत् है, वह स्तव है।

क्रोचे कहते हैं, यथार्थ में कला तो आंतरिक ही होती है, वह स्वयं प्रकाश्य-ज्ञान की आध्यात्मिक क्रिया है। कला सफल अभिव्यक्ति का नाम है और अभिव्यक्ति जब तक सफल न हो, वह अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।† क्रोचे कुरूपता में तो श्रेणी मानते हैं और इस कुरूपता से उनका आशय कुंठित और असफल अभिव्यक्ति है। सौंदर्य को वे पूर्ण मानते हैं और उनमें श्रेणी विभाजन को स्वीकार नहीं करते। आखिर देवताओं में बड़ा छोटा भी क्या हो सकता है! उनकी राय में, ऐसी पुस्तकें जिनका सम्बन्ध कला के विभाजन से है, यदि जला दी जायँ, तो कोई नुकसान नहीं होगा।*

---

† वी मे डिफाइन ब्यूटी ऐज़ सक्सेसफुल ऐक्सप्रेसन, ऑर बेटर, ऐज़ ऐक्सप्रेसन ऐंड नथिंग मोर, बिकाउज़ ऐक्सप्रेसन, व्हेन इट इज़ नॉट सक्सेसफुल, इज़ नॉट ऐक्सप्रेसन।

* ऑल [illegible] दि बुक्स डीलिंग विथ् क्लैसिफिकेशन ऐंड सिस्टम्स ऑफ् दि आर्ट्स इफ़ [illegible]पर्न्ट विदाउट एनी लॉस व्हाटएवर।

आत्मोपलब्धि या अंतरात्मा की सत्य-प्रतीति की रूप-विधान द्वारा सृष्टि ही कला है। गायक उसे स्वर या ध्वनि से, चित्रकार रंग-रेखा से, वास्तुविद् और भास्कर ईंट-पत्थर से, कवि शब्द या वाक्य से रूपान्वित करना चाहते हैं। इनके उपकरणों का पार्थक्य चाहे जितना भी हो, आंतरिक लक्ष्य एक ही होता है। इस तरह उपकरण की कला में वह महत्ता नहीं रह जाती; क्योंकि कला का सौंदर्य तो आभ्यंतरिक सत्य की अभिव्यक्ति में निहित है। बाहरी वस्तुएँ तो उस सत्य को रूप देने के आधार मात्र हैं। रूप-सृष्टि के द्वारा उस सत्य को आँख और कान के विषयीभूत कर देने में ही उसकी सार्थकता है। उपकरण चाहे जो हो, उसके आधार से अन्तरात्मा को जो कलाकार जितना ही अधिक जीवंत और जाग्रत कर देता है, वह उतना ही बड़ा कलाकार है। उपकरण कला की मर्यादा में श्रेणी का व्यवधान मूलतया नहीं ला सकता। विष्णुदिगम्बर, अवनींद्रनाथ और रवींद्रनाथ इसीलिये समान रूप से आदरणीय और नमस्य हैं। हमारे यहाँ कला की संख्या का निर्देश तो अनेक स्थान में और अनेक रूपों में पाया जाता है, किन्तु उनके वर्ग-निर्द्धारण की कोई चेष्टा शुरू से नहीं पायी जाती, बल्कि कला-विवेचन की भी वही दृष्टि हम कहीं-कहीं पाते हैं, जो कि काव्यालोचन के लिये काम में लायी गयी है।

काव्य की आत्मा रस है और रस की निविड़ता ही श्रेष्ठ काव्य का लक्षण है। कलाओं की विवेचना रसानुकूल ही हो, ऐसा उल्लेख हमारे यहाँ मिलता है, क्योंकि कलायें भी रसपरक हैं। विष्णुधर्मोत्तर पुराण (सातवीं-आठवीं सदी) के 'चित्रसूत्र'* अध्याय में काव्य, गान, नृत्य, अभिनय, चित्र, मूर्ति आदि को कलाओं की एक ही कोटि में रखकर विचार किया गया है और वह विचार रस पर आधारित है। रस नौ हैं—

> शृङ्गार हास्य करुणा वीर रौद्र भयानकाः।
> वीभत्साद्भुत-शांताख्या नव नाट्य रसाः स्मृता।

उपर्युक्त 'चित्रसूत्र' की चित्र-चर्चा में भी यही नौ रस माने गये हैं और श्लोक को अंतिम दो शब्द बदल कर (चित्र-रसाः स्मृताः) ज्यों का त्यों दिया गया है। यथा—

> शृंगार - हास्य - करुणा - वीर-रौद्र-भयानकाः।
> वीभत्साद्भुत-शान्ताख्या नव चित्र-रसाः स्मृताः।

---

* स्तेला क्रेमरिश और डा० आनंद कुमार स्वामी ने उसका अनुवाद किया है। श्री नानालाल चमनलाल मेहता ने भारतीय चित्र कला के 'चित्र-मीमांसा' अध्याय में उसका बहुत कुछ उल्लेख किया है।

केवल नौ रसों की चर्चा भर ही नहीं की गयी है, कहाँ किस रस के चित्र लगाये जायें, इसका भी विचार है। यथा—निवास स्थान में श्मशान के तथा करुण और अमंगल चित्र कभी नहीं बनाना चाहिये, साधारण वासगृह में शृंगार, हास्य और शान्त रस के ही चित्र बनाने चाहिये।§

ग्यारहवीं सदी के 'अभिलषितार्थ चिन्तामणि' में चित्रों में रस और चित्र गत रस के साधारणीकरण का जिक्र आया है। उसमें कहा गया है कि रसचित्रों में रसों की अभिव्यक्ति होती है और देखते ही दर्शक का उन रसों से तादात्म्य हो जाता है।* यह रस चित्र चित्रालेखन का एक प्रकार है। केरल निवासी श्री कुमार ने अपने 'शिल्परत्न' में चित्रों के तीन भेद बताये हैं—धूलिचित्र (बंगाल की आल्पना, गुजरात या उत्तर प्रदेश का चौक पूरना, ब्रज और बुंदेलखण्ड में आज भी जिसे साँझी कहते हैं), सादृश्य चित्र (दर्पण प्रतिबिम्बवत् नहीं, कैमरे के फोटोग्राफ की तरह अनुकृति नहीं, जिसमें मानसिकता या कल्पना का पुट भी हो) † और रस चित्र (शृंगारादि रसो यत्र दर्शनादेव गम्यते)।

जिन्हें सचमुच चित्र कहा जा सके, ऐसे चित्रों के गुण बताये गये हैं—

---

§ भारतीय चित्रकला। स्तेला क्रेमरिश के अनुवाद में यह यों है—मार्कण्डेय सेड् दि सेंटिमेंट्स (रस) रिप्रेजेंटेड इन् पेंटिंग आर सेड् टु बि नाइन पिक्चर टु एंबेलिश होम्स शोल्ड् बिलौंग टु शृंगार, हास्य एंड शांत रसाज। —सिद्धान्त और आलोचना

* कला की भारतीय परिभाषा—रायकृष्णदास

† 'नायधम्म कथा' से सादृश्य चित्र में मानसिकता के जादू की एक आख्यायिका का यहाँ उल्लेख कर दें—मिथिलानरेश कुंभराज के पुत्र ने एक चित्रशाला बनवायी। एक चित्रकार ने उसकी दीवार पर राजकुमारी मल्लिका का मात्र अंगूठा ही देखकर उसका हूबहू चित्र उतार दिया। चित्र को देखकर राजकुमार को अपनी बड़ी बहन और चित्रकार के सम्बन्ध में धोखा हुआ और उन्होंने उसे प्राणदण्ड की आज्ञा दी। किन्तु बाद में उन्हें पता चला कि यह आवेहूब चित्र कलाकार की कल्पना का ही करतब है, तो उन्होंने उसे प्राणदण्ड से मुक्त करके सदा के लिये निर्वासित कर दिया। अथवा—कालिदास ने दुष्यंत के बनाये जिस चित्र का उल्लेख किया है, उसे देखकर मिश्रकेशी को भ्रम हो गया था कि सचमुच शकुंतला ही खड़ी है। वह चित्र—

माधुर्य, ओज और सजीवता, जो वास्तव में काव्य के भी गुण हैं।

लसतीव च भूलंब्रो विभ्यतीव (?) तथा नृप।
हसतीव च माधुर्यं सजीव इव दृश्यते।
सश्वास इव यच्चित्रं तच्चित्रं शुभलक्षणम्।

अर्थात् सुन्दर चित्र में माधुर्य, ओज और सजीवता तथा जीवित प्राणी जैसी ही एक चेतना होनी चाहिये। काव्य की तरह चित्र को भी धर्म अर्थ काम मोक्ष का देने वाला कहा गया है—कलानां प्रवरं चित्रं धर्मकामार्थ मोक्षदम्।

इस प्रकार केवल चित्र ही नहीं, आज ललित कला की कोटि मे जो भी कलायें आती हैं, उन सबको कलाओं की एक इकाई मान कर उनका एक दूसरे से अटूट सम्बन्ध बताया गया है और एक ही कसौटी पर सब की विवेचना की गयी है। सब में कल्पनासृष्टि और मानसदृष्टि के भावमय आविष्कार की अपेक्षा स्वीकार की गयी है। वाद्य संगीत का उद्देश्य यदि स्वरों की भाव-सृष्टि में पूरा होता है, तो चित्र का उनकी रूप-रेखाओं में, भावाभिव्यंजक आकारो में। इसी प्रकार वास्तु या मूर्त्ति में पत्थर, काष्ठ या धातुओं में उसी रूप की प्रतिष्ठा होती है।

'भारत चित्रेर षड़ंग' में अवनींद्रनाथ ठाकुर लिखते हैं—आत्मा आत्मीयता के लिये व्याकुल है; चारों ओर की आत्मीयता में अपने को प्रकट करने के लिये उसमें एक प्रकाश-वेदना उदय होती और काम करती रहती है। इस उदय की अभिव्यक्ति ही चित्र है। इस उदय का रंग, इस वेदना की शोणिमा जब सादे कागज को रंजित करने लगती है, उसे रूप, लावण्य, प्रमाण, वर्णिकाभंग और सादृश्य देती है, तो चित्र होता है। सूर्य किस अंतराल में उदित होते हैं, कौन जानता है। हम सूरज को तब देख पाते हैं, जब वे उदय की रश्मि-रेखाओं से आकाश के पट को रँग देते हैं, जब सूर्योदय जल-स्थल, अंतरिक्ष के रूप-प्रमाण, भाव-लावण्यादि को सोने के एक जाग्रत स्वप्न से उद्बोधित कर अपने अभ्युदय का संदेश हमें देता है। अतएव

दीर्घापांगविसारि नेत्रयुगलं लीलांचित भ्रूलतां
दान्तानतःपरिकीर्णहासकिरणज्योत्स्नाविलिप्ताधरम्।
कर्कन्धूद्युति पाटलोष्ठरुचिरं तस्यास्तदेतन्मुखम्
चित्रेऽप्यालपतीव विभ्रमलसत् प्रोद्भिन्न कान्तिद्रवम्।

ऐसे नायक धीरललित हैं, जो कलात्मक माने जाते हैं—निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः (दशरूपक)।

चित्र पहले तो एक गोपन हृदय-उत्स है जिसमें कि प्रकाश-वेदना होती है और अंत में वह है एक अनिर्वचनीय रसोदय, जहाँ चित्र की परिणति है।

चित्र की तरह ही है मूर्त्ति, केवल उपादान का अन्तर है—

यथाचित्र तथैवोक्त खातपूर्व नराधिप।
सुवर्ण रूप्यताम्रादि तच्च लौहेषु कारयेत॥
शिलादारुषु लौहेषु प्रतिमा करणं भवेत्॥

इटली के श्रेष्ठशिल्पी लिओनार्दो द विंची ने भी चित्र और मूर्त्ति में मनुष्य एवं उसकी आत्मा की आकांक्षा को अंकित कर देने को ही कला की सार्थकता कहा है। वास्तुकला को भी एक विद्वान् ने जमा हुआ संगीत कहा है, जिसकी भाषा संगीत ही की तरह सार्वजनिक होती है। उसमें मानव का रूप चाहे न हो, मानवी भावों की योजना होती है, गहराई नहीं, तो व्यापकता होती है। ताजमहल को इसीलिये रवीन्द्र ने 'अनन्त की वेदी' कहा है, कहा है, वह 'कालेर कपोलतले एक बिंदु नयनेर जल' है। वह सभी काल की और सब की सम्पत्ति बन गया है।*

जिस प्रकार रंगों के रस माने गये हैं, उसी तरह रस के रंग भी माने गये हैं—शृंगार का श्याम, रौद्र का लाल। सभी राग-रागिनियों की रूपमय कल्पना भी की गयी है। चिदंबर के नटराज मन्दिर में (१२४३ से १२६३ के बीच निर्माणकाल) पूरब और पश्चिम के गोपुरों की दीवार पर नाट्यशास्त्र के १०८ आसनों की प्रतिमायें बनी हैं, जिनके नीचे परिचायक श्लोक भी खुदे हुए हैं। इन मुद्राओं की समान रूप से चित्र और नृत्य में आवश्यकता होती है। मार्कण्डेय मुनि ने इसीलिये कहा है—नृत्य शास्त्र के बिना चित्र-सूत्र समझना कठिन है—विना तु नृत्यशास्त्रेण चित्र सूत्रं सुदुर्विदम्। नृत्य नेत्र, अँगुली और पदों की भावमयी चेष्टायें हैं। हमारे यहाँ संगीत के अंतर्गत गान, वादन और नृत्य माना गया है और उसमें भी रस की अवस्थिति मानी गयी है—

रसेन भावेन समन्वितं च तालानुगं काव्य रसानुगञ्च।
गीतानुगं नृत्त मुशन्ति धन्यं सुखप्रदं धर्म विवर्धनञ्च॥

---

* भारतीय दृष्टिकोण से मूर्ति को भी तक्षण के अन्दर ही माना गया है। तक्षण-शिल्प के चार अंग माने गये हैं, गुफा, मंदिर, स्तंभ और मूर्ति। अब मूर्ति ललितकला में अपना अलग स्थान रखती है और गुफा, मंदिर स्तंभ आदि वास्तुकला के विषय हैं।

गीत के लय-स्वर भी रसों की प्रतिष्ठा करते हैं, किस स्वर-लय से किस रस का सम्बन्ध है, 'चित्रसूत्र' में वह भी दिखाया गया है। यथा,

"" तत्र हास्य शृंङ्गारयोर्मध्यम-पंचमौ। वीर रौद्राद्भुतेषु षड्ज पंचमौ। करुणे निषादगांधारौ। वीभत्सभयानकयोर्धैवतम्। शान्ते मध्यमम्। तथा लयाः— हास्य-शृंगारयोर्मध्यमाः। वीभत्स भयानकयोर्विलम्बितम्। वीर रौद्राद्भुतेषुद्रुतः।

'शिल्परत्न' में चित्र शब्द का व्यवहार आलेखन और तक्षण दोनों ही के लिये हुआ है। कहा गया है, तीनों लोकों की जंगम स्थावर वस्तुओं का स्वाभाविक रूप से चित्रण करना ही चित्र है।† चित्र से अभिप्राय ऐसे वस्तु-विधान का लिया गया है, जो चारों ओर से देखा या निरीक्षण किया जा सके। एक ओर से, केवल सामने से दिखनेवाले चित्र को अर्द्धचित्र कहा जाता था। अतः चित्र से वही बोध होता है, जो अंग्रेजी में 'स्कल्पचर इन राउण्ड' से होता है।

तत्व या आंतरिक अभिव्यक्ति को देखते हुए, गुण-कर्म के हिसाब से ही कलाओं का तारतम्य, उसके क्रमनिर्देश या श्रेणी-विभाजन की चेष्टा लोगों ने की। जैसे, चार वर्णों की परिकल्पना में ऊँच-नीच, छोटा-बड़ा, श्रेय-हेय की गुंजाइश नहीं, मूलतः कला में भी कला की श्रेणियाँ बनाने से वह प्रश्न नहीं आता। इतना अवश्य है कि बहुत समय उपकरण के साथ पद्धति या भंगी की भिन्नता भी परिलक्षित होती है, आधार के हिसाब से अभिव्यक्ति को कभी-कभी विशेष भाव की महिमा मिल जाती है और इसीलिये कलाओं के अखण्ड साम्य स्वरूप को ध्यान में रखते हुए उसका एक क्रमनिर्देश, स्तर-विभाग किया जा सकता है। ऐसी ही भावना के वशीभूत भिन्न-भिन्न विद्वानों ने काव्य की भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ बनायीं, भेद गढ़े। जैसे, सामाजिक जगत् की कविता और मानसिक जगत् की कविता; शक्तिकाव्य (पोइट्री ऐज़ इनर्जी) और कलाकाव्य (पोइट्री ऐज़ ऐन् आर्ट); वाह्यार्थ निरूपक और स्वानुभूति निदर्शक कविता; संभ्रांत कविता (पोइट्री ऑफ ऐरिस्टोक्रैसी) और साधारण कविता (पोइट्री ऑफ डिमोक्रैसी); प्राकृत कविता और आदर्श कविता, उपदेशात्मक (डिक्टिक) और कलात्मक कविता, व्यक्तित्व युक्त (कंक्रीट) और व्यक्तित्वहीन कविता (ऐब्सट्रैक्ट), नाटक-काव्य (ड्रैमेटिक पोइट्री) और गीतिकाव्य (लीरिक) आदि-आदि। कला को भी ऐसे भेदों द्वारा देखने की

---

† जङ्गमा वा स्थावरा वा ये सन्ति भुवनत्रये।
तत्तत्स्वभावतस्तेषां करणं चित्रमुच्यते॥

एक प्रवृत्ति लोगों में भीतर भीतर पनपती रही और तरह तरह से लोगों ने उसका परिचय दिया। एक ने कला को नैपुण्य माना और उस हिसाब से कला के दो भेद किये—स्वाभाविक नैपुण्यजन्य कला (नेचुरल आर्ट) और अभ्यास या शिक्षालब्ध नैपुण्य की कला (आर्ट एक्वायर्ड बाइ प्रैक्टिस और नॉलेज)। इसमें स्वभावतया कला के लिये हम जिस प्रतिभा (जीनियस) को अनिवार्य मानते हैं, उस प्रतिभा का कोई स्थान नहीं, इसमें उस गुण की आवश्यकता है, जिसे अंग्रेजी में टैलेंट् कहा जाता है। एक दूसरे सज्जन ने प्राकृत और संस्कृत—कला के दो भेद किये।* प्राकृत शिल्प (पोपुलर आर्ट) प्रकृति की अनुकृति होती है और इसलिये उसे सब कोई समझ सकते हैं। उसमें कलाकार की मानसिकता सौंदर्य का वह अंश नहीं जोड़ती, जिससे उसमें नवीनता का समावेश हो, उस नवीनता का, जिसे समझने के लिए एक संस्कार, एक भावदृष्टि का प्रयोजन होता है। वह पुनरावृत्ति या पुनरुक्ति है। संस्कृत कला के परिचय के लिये संस्कार चाहिये—उसकी भाषा—भाषा यानी अभिव्यक्ति—विदग्ध होती है। सर्वजनसुलभ और सर्वजनबोध्य होने से ही भाषा विदग्ध नहीं होती—विदग्ध भाषा में चूंकि संस्कार होता है, इसीलिये उसका नाम संस्कृत है—कल्चर्ड लेंग्वेज। प्राचीन काव्यों में बहुत बार हम दो भाषाओं को प्रयुक्त होते देखते हैं। अभिजात और संस्कारी व्यक्ति देवभाषा में बोलते हैं—स्त्रियाँ या असंस्कारी लोग प्राकृत में। इस प्राकृत से तब की सारी प्रादेशिक या लोक भाषायें गिनी जाती थीं—मागधी, सौराष्ट्री, पैशाची, शौरसेनी—सभी। दुष्यंत के प्रासाद में पट्टमहादेवी हंसपदिका वीणा पर जो गीत गाती है, वह प्राकृत ही में।

अहिणअ महुलोलुवो तुम तह परिचुम्बिअ चूअमञ्जरिं।

लिहाजा भाषा में जैसे दो प्रकार के प्रकाश हैं—प्राकृत और संस्कृत, उसी प्रकार कला की दो भाषायें हैं—प्राकृत और संस्कृत।

अभिव्यक्ति में हृदय के संस्कार से, कल्पना के संस्पर्श से भाषा में एक विशिष्ट शक्ति आती है। उसमें उपमा, अलंकार, संकेत, इंगित बहुत कुछ जुड़ जाता है। जैसे, सिर पर पैर रखकर भागा। सिर पर पैर रखकर भागा नहीं जा सकता, भागने के लिये आधार तो पैर ही है। किंतु यह पंक्ति निरर्थक नहीं है—अपनी शक्ति से बाहर बोलती है। पैरों की गति की कोई एक सीमा होती है, यह उस सीमा का व्यतिक्रम कर, सामर्थ्य से बाहर

* बँगला अलका में श्री वीरेश्वर सेन का लेख—संस्कृत और प्राकृतशिल्प।

दौड़ने का संकेत करती है—जैसे, हवा हो गया। वर्षा उतरी (उसके पाँव नहीं), सूर्य प्रसन्न हुआ (सूर्य हृदयवान् नहीं), धूप-छाँह की आँखमिचौनी, पल्लवों का मर्मर-क्रंदन आदि-आदि। यह भाषा की शक्तिमत्ता है, जो मनुष्य की उस कल्पना-शक्ति की देन है, जिससे वह अपने चारों ओर की प्रकृति में अपने मन का रंग चढ़ाता है, उसमें वह अपना ही गुण-दोष देखता और सबको वैसा ही दिखाना चाहता है। यह प्रकृति को सुगमता से चीन्हने-जानने की मानवी चेष्टा है, इसे गोर्की ने 'एन्थ्रोपोमरफिज्म' कहा है। उपमायें साहित्य का एक अविच्छेद्य अंग हैं, इसमें मुख्य की तुलना गौण से की जाती है, जैसे कमल जैसा चरण, चाँद जैसा मुख। कवि जब चन्द्रमुख या मुखचन्द्र कहता है, तो उसका अभिप्राय मुख की आकृति के सादृश्य से नहीं होता, बल्कि चन्द्रोदय से उसके जो अपने मनोभाव होते हैं उससे वह उस मनोभाव का सादृश्य दिखाना चाहता है जो प्रेमिका के दर्शन से प्रेमिक का होता है। एक की दूसरे रूप से सदृशता दिखाकर जो व्यंजना होती है, वही उत्तम होती है और मनोभाव का मेल हो जाना ही वास्तविक सादृश्य है। रूप और मनोभाव एक दूसरे के छंद में बँधकर एकरूप हो उठते हैं।†

पाश्चात्य देशों में ज्ञान-विज्ञान की अन्य शाखाओं के समान कला की कलना भी ग्रीस से ही शुरू हुई। पाश्चात्यों ने कला का वर्गीकरण सर्व-प्रथम उपयोगिता के विचार से ही किया। कला के दो रूप माने गये, उप-योगी कला और ललितकला। उपयोगी कला का सम्बन्ध भौतिक सुख-समृद्धि से है और ललितकला का मानसिक सुख और विकास से। प्रथम की अंतःवाणी उपयोगिता है, दूसरी का सौंदर्य। महादेवी ने गुलाब और गुलकंद से इन दोनों की तुलना की है। गुलाब अपने वर्ण-वास से हमें आत्मिक सुख देता है और गुलकंद अपने स्वाद और पुष्टई से भौतिक सुख। इस भेद की कोई वैज्ञानिक कीमत नहीं है, यह महज व्यावहारिक है। मनुष्य बुद्धिजीवी जीव है, बिना किसी लाभ के उसकी प्रवृत्ति किसी वस्तु में सहज ही नहीं रमती। अतः उपयोगिता की खोज वह करता है। इसी उपयोगिता के साथ वह अपने मन की आनन्द-प्रवृत्ति, सौंदर्य-पिपासा-प्रवृत्ति की भी

---

† मूषासिक्तं यथा ताम्रं तन्निभं जायते यथा।
रूपादीन् व्याप्नुवच्चित्तं तन्निभं दृश्यते ध्रुवम्॥
—पंचदशी

तृप्ति किये बिना नहीं रह सकता। स्वभावतया उसकी सौंदर्य-भावना में उपयोगिता और उपयोगिता में सौंदर्य-भावना अन्तर्हित होती है। वह लज्जा-निवारण के लिये वस्त्र-वयन करता है, तो उसे भी पल्ला, कोर, गोट-किनार से सजाता है। इस गोट किनार के बिना साड़ी साड़ी नहीं होगी, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। यही उसकी सौंदर्य भावना की सृष्टि है। इससे उसकी उपयोगिता वृत्ति को आनन्द का एक 'इजाफा', एक 'अतिरिक्त मुनाफा' मिलता है और उससे साड़ी साड़ी जैसी लगने लगती है। भौतिक प्रयोजनों की जहाँ हमें गुलामी और बेगारी करनी पड़ती है, वहाँ तो हमारी एक विवश दीनता होती है। उस दैहिक दासता की जो निर्मम यातना है, उसकी जो एक यान्त्रिक गति है—उसी में जो रूप जीवन का प्रकट होता है, वास्तव में वही तो जीवन नहीं। उसका शारीरिक रूप, प्रावृत्तिक भूख ही सब कुछ नहीं, मन भी उसका बहुत बड़ा अंश है। अन्नमय और प्राणमय कोश ही तो जीवन का सर्वस्व नहीं, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश भी है। इसीलिये जब वह उपयोगिता की खोज करता है, तभी सौंदर्य और आनन्द की भी साधना करता है। उपयोगिता के बिना यदि वह जी नहीं सकता, तो आनन्द के बिना भी यन्त्रवत् रहना उसके लिये असम्भव है। उसके दैनदिन प्रयाजनों में इसीलिये आनन्द का भी अंश आवश्यक हो गया है। क्या सभ्य और क्या असभ्य, किसी न किसी रूप में उसमें हम सौंदर्य और आनन्द की यह प्रवृत्ति अवश्य पाते हैं। एक ओर वह जीवन संघर्ष का सेनानी है, दूसरी ओर वह है आनन्दकामी। वह रूप-रचना करता है, वह सुख दुख को गाता है। जिसे हम जीवन के लिये अप्रयोजनीय मानते हैं, मानते हैं कि जिन वस्तुओं के बिना भी जीवन को जिया जा सकता है, वैसे अप्रयोजना की मनुष्य अपने चारों ओर कुछ कम भीड़ नहीं लगाता।

मिट्टी के पूजा-पात्र पर कवि कीट्स की एक संसारप्रसिद्ध कविता है। वह पूजा-पात्र क्या शिल्पी ने सिर्फ इसीलिये बनाया था कि उसमें रखकर मंदिर तक अर्घ्य ले जाया जाय? मात्र इसी प्रयोजन तक ही उस आधार की सृष्टि सीमित नहीं थी—इस प्रयोजन की भी सिद्धि उसके द्वारा अवश्य हुई है, फिर भी उसमें इसके अतिरिक्त भी कुछ था। उस पात्र पर रूप-रचना के द्वारा शिल्पी ने सौंदर्य के आदर्श को पूर्णता देने की भी चेष्टा की थी, उसी रूप में अरूप को बाँध देने का प्रयास किया था। उसमें उसके प्रयोजन साधन की वृत्ति से सौंदर्य-साधना की चेष्टा मुख्य थी। दैनिक प्रयोजन भी उससे सिद्ध हुआ हो, यह और बात है। कीट्स ने उस पर लिखा, हे नीरव

मूर्ति, तुम हमारे मन को आकुल करके सभी चिंताओं से परे ले जाओ, जैसा कि असीम ले जाता है।† प्रयोजन की पूर्ति के लिये ऐसे पात्र, ऐसे आधार बहुत थोड़े नहीं बने हैं, पुरानी खुदाई की प्राप्त सामग्रियों से उसके क्रम-विकास का एक बहुत बड़ा पोथा तैयार किया जा सकता है। किंतु उनमें से आज कितनों की सौंदर्य-चर्चा है? कीट्स को उसी पात्र में साहित्य-शिल्प के उस मंत्र—सत्य सुन्दर है, सुन्दर सत्य है—का निमंत्रण क्यों मिल गया? इसीलिये कि उस पूजापात्र में प्रयोजन के दैन्य का ही प्रकाश नहीं है, आन्तरिक आनन्द के ऐश्वर्य को रूप मिला है। इसी आनन्द को अमृत कहा गया है—आनंद-रूपंमृतम्। इस अमृत के अर्थ दो हैं—अमृत यानी जो कभी नहीं मरता और अमृत अर्थात् रस—आनन्द। यह रस, यह आनन्द जहाँ भी रूप में प्रतिष्ठित होता है, वह कालजयी और मृत्युहीन होता है। राज-पाट, धन-वैभव में भी ऐश्वर्य है किंतु चूँकि उसे आनन्द का यह स्पर्शमणि नहीं छूता, इसलिये काल का चक्र उसपर चल जाता है। मुगलों की सल्तनत बहुत बड़ी थी, बहुत बड़ा था उनका रोब-दाब। वे आनन्द की अनन्त वेदी पर नहीं चढ़ाये गये, अतः उनका अन्त हो गया। ताजमहल में आनन्द के उस ऐश्वर्य की महिमा है और वह काल को अतिक्रम कर आज भी खड़ा है।

उपयोगिता के हिसाब से कला की उपयोगी और ललितकला—ये दो कोटियाँ बनायी गयीं, यह हम ऊपर कह आये हैं। उपयोगी यानी हुनर-कला, कारुकला या क्रैफ्ट। इसमें बढ़ई, कुम्हार, सुनार, लुहार आदि की कारीगरी गिनी जाती है और ललितकला के अन्तर्गत पाँच कलायें आती हैं—भवन-निर्माण (वास्तु विद्या), मूर्ति (भास्कर्य), चित्र (आलेखन), संगीत और काव्य। कारु-कला वही है, जिसका सम्बन्ध कि सीधे हमारे जीवन की उपयोगिता से हो, जिनके बिना हमारे दैनंदिन प्रयोजन नहीं चल सकते और जीने में कठिनाई होती है। चारुकला हमारी मानसिक तृप्ति के लिए है, उससे हमारे सौंदर्य-बोध और आनन्द-प्रवृत्ति की पूर्ति होती है। यह ऐसी आवश्यक नहीं मानी जाती कि इसके बिना जीने में कोई कठिनाई हो। किंतु यदि हम ध्यान से देखें तो प्रयोजन और अप्रयोजन की दृष्टि से दोनों के बीच कोई निश्चित रेखा खींच देना सब समय सहज नहीं होता। आनन्द और उपयोगिता दोनो ऐसे अंगांगी से हैं, दोनों हमारी प्रवृत्तियों में ऐसे अभिन्न-से गुँथे हैं कि कौन

---

† दाओ साइलेंट फॉर्म, डॉस्ट टीज़ अस आउट ऑफ़ थॉट,
ऐज़ डॉथ इटर्निटी।

मुख्य, कौन गौण हैं, यह विचार कठिन हो जाता है, बहुत बार निष्प्रयोजन भी। प्राचीन गाँवो की खुदाई में जो बर्त्तन-वासन मिले हैं, उनमें से बहुतों में खुश नुमा काम किये हुए हैं। आज भी रोज-रोज की जरूरतों के लिये ऐसे अनेक पात्र मिलते हैं, जिनमें चित्रकारी और पच्चीकारी मिलती है। कर्नाटक और उड़ीसा के गाँवों मे जाइये, वहाँ के घड़े या अन्य बर्त्तनों में आपको खुशनुमा चित्र भी बने हुए मिलेंगे। कोई कारीगर कासे, पीतल या मिट्टी का बर्त्तन बनाता है, तो उस पर कोई न कोई चित्र भी चितेर देता है, लकड़ी का कोई सामान बनाता है, तो उसपर खूबसूरत नक्काशी कर देता है। इसलिए सहज ही मानना पड़ता है कि कला से जीवन के आनन्द को व्यक्त करने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। नृत्य, गीत, उत्सव-समारोह भी जातीय जीवन और सामाजिकता का एक आवश्यक 'अङ्ग है—यह अन्तर की सौंदर्य-पिपासा, अन्तर्वृत्ति का ही तो प्रकाश है। अतएव जिन चेष्टाओं में प्राणों के उन्मुक्त आनन्द को प्रकाश मिलता है, उन कला कृतियों में उपयोगिता तथा निरुप योगिता, हुनर और कलाकारिता का भेद करना कठिन है।

पाश्चात्य देशों में काव्य को कला के अंतर्गत सबसे पहले सम्भवत अरस्तू ने शामिल किया। अरस्तू काव्य को सगीत मे गिनते थे और उसे उसी का एक प्रकार मानते थे। प्लेटो ने भी काव्य को संगीत मे ही गिनाया है और उसे मन के लिये माना है। किन्हीं-किन्हीं सज्जन ने इन पाँच के अतिरिक्त अभिनय को और किन्हीं किन्हीं ने नाट्य, नृत्य और व्याख्यान को भी ललित-कलाओं के भेद गिनाये हैं। किन्तु प्रकारातर से इन तीनों का भी अंतर्भाव उपर्युक्त पाँच भेदों में हो जाता है। नृत्य तो वास्तव में सगीत का ही एक अग है—सगीत में गीत, वाद्य और नृत्य, तीनों गिने जाते हैं।* इसी तरह अभिनय और व्याख्यान काव्य के अंतर्गत आ जाते हैं। काव्य के श्रव्य और दृश्य, दो भेद तो हैं ही।

हेगेल ने पहले तो कलाओं को तीन श्रेणियों में विभाजित किया—प्रती कात्मक, प्रबन्धात्मक और भावात्मक। फिर मूर्त्त और अमूर्त्त आधार की मात्रा के अनुसार उसम एक ऊपर नीचे का क्रम निर्धारित किया। उनके विचार से वह कला उतनी ही श्रेष्ठ है, जिसका आधार कि जितना ही सूक्ष्म या अमूर्त्त है। इस विभाजन से ललित-कलायें दो श्रेणियों मे आ जाती हैं— एक जो कि नेत्रग्राह्य हैं और स्थूल भौतिक पदार्थों के सहारे रूप पाती हैं।

---

* गीत वाद्य नर्त्तन च त्रयं सगीतमुच्यते।

दूसरी जो कि श्रोत्रग्राह्य हैं और अपेक्षाकृत सूक्ष्म भौतिक पदार्थों का सहारा लेती हैं। एक इस तरह मूर्त्त कला हो जाती है, दूसरी अमूर्त्त। अतएव पाँच में से प्रथम तीन—वास्तु, मूर्त्ति, चित्र—मूर्त्त कलायें हैं और देश (स्पेस) से सम्बन्धित हैं। संगीत और काव्य श्रवणग्राह्य अतएव अमूर्त्त कलायें हैं, जिनका संबंध काल से है। संगीत की ताल-लय और कविता का छंद-बंधन या मात्रायें काल से ही सम्बन्ध रखती हैं। पहली तीन कलाओं में मूर्त्तत्व अपेक्षाकृत अधिक है अतः उन्हें पार्श्व-स्थापन की कला कहते हैं। संगीत, काव्य अमूर्त्तप्राय हैं अतएव इन्हें पूर्वापर क्रम की कला कहते हैं। आधार की स्थूलता के अनुसार हेगेल ने वास्तुकला का स्थान सबसे नीचे रक्खा है, क्योंकि इसके आधार अधिक से अधिक स्थूल होते हैं, मूर्ति कला का उससे कम, चित्र का उससे भी कम। वास्तु में भाव होता है, मूर्ति और चित्र में भावों के साथ आकृति भी होती है। चित्र में पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति की प्रतिलिपि भी आ जाती है और इसमें वास्तु या मूर्तिकला की तरह चौड़ाई और मोटाई दोनों न होकर केवल चौड़ाई ही होती है। संगीत और काव्य को अमूर्त्त कला के साथ श्रोत्रग्राह्य कहा गया है। संगीत में नृत्य के लिये दर्शन-क्रिया आवश्यक होती है और काव्य में नाट्य के दर्शक और कविता के पाठक भी आवश्यक हो जाते हैं। इस तरह काव्य-संगीत श्रोत्रग्राह्य और नेत्रग्राह्य दोनों हैं। आधार की मूर्त्तता की मात्रा के अनुसार हेगेल ने काव्य को सर्वश्रेष्ठ और संगीत को उससे एक सीढ़ी नीचे माना है। किन्तु संगीत चूंकि नादात्मक है, ध्वन्यात्मक है, इसलिये वह काव्य से भी अधिक अमूर्त्त है। केवल स्वरों के आलाप और आरोह-अवरोह तक ही उसकी मूर्तता सीमित है। शाब्दिक व्यंजना के बिना केवल तान और आलाप से भी संगीत की प्रभावोत्पादकता जीवंत रह सकती है, जबकि कविता को शब्द और वर्ण के बिना कोई चारा नहीं है। वर्ण अपेक्षाकृत मूर्त है और जैसे चित्र में, उसी तरह वर्ण में भी मोटाई रहित आधार होता है। वर्णमाला का आरंभ चित्र-लिपि से ही होता है। इस प्रकार वर्णों से काव्य का मूर्त्तत्व भी प्रमाणित है। हेगेल के वर्गीकरण के इस आधार के विरुद्ध 'प्रसाद' जी ने काव्य की मूर्तिमत्ता के कई उदाहरण दिये हैं। एक तो उन्होंने पाणिनी के उस सूत्र का उल्लेख किया है, जिसमें वर्णों से शब्दों की स्वरूपता का प्रतिपादन होता है—स्वं रूपं शब्दस्या शब्द संज्ञा। तंत्रों में वर्णमातृका की जो कल्पना की गयी है, उसमें अ से ह तक के ज्ञान का प्रतीक अहं माना गया है। यही नहीं, वृहदारण्यक में मूर्त्त और अमूर्त्त, दोनों के रूपत्व की आवश्यकता बतायी

गयी है, क्योंकि जो चाक्षुपप्रत्यक्ष नहीं है, उसे भी रूपान्वित करके ही हृदय उसका अनुभव कर सकता है। मोटामोटी सौंदर्य-बोध के लिये रूप-प्रतिष्ठा आवश्यक है। अनुभूति के साथ ही हम संवेदन को आकार देकर उनकी प्रतीक योजना करते हैं। ऐसी स्थिति में काव्य की अमूर्तता विशेष महत्व और अर्थ नहीं रखती। लिपिशास्त्र के अनुसार प्राचीन भाषाएँ चित्रमय हैं। संस्कृत में चित्र को स्थान-स्थान पर आलेखन भी कहा गया है, यह भी एक प्रकार की लेखन कला ही थी। पहाड़ी चित्रकार माणकू ने चित्र-रचना को 'चित्रलिखा' ही कहा है। ईरान के मुसव्वरों ने बहुत चित्रों के नीचे 'राक़िम' लिखकर अपनी सही बनायी है। राक़िम का अर्थ लिखने वाला है। चीन और जापान की चित्रकला तो लेखन और चित्रकारिता का अपूर्व समन्वय है।

संगीत में आकार और विधि की महत्ता विशेष रूप से होती है और उसके उपकरण मूलतया वायु के कंपन ही होते हैं। संगीत शब्दों की सहायता लिये बिना केवल सुर में ही आत्मप्रकाश कर सकता है और उस शब्द-रहित स्वर-योजना से भावनाजन्य आनन्द की प्राप्ति में किसी तरह की बाधा नहीं होती। गायक जब तिल्लाना गाते हैं, तो अर्थशून्य नाद ही करते हैं। वाद्य यंत्रों में केवल स्वर योजना ही होती है। किंतु काव्य नाद या अर्थ, चाहे जिस स्थिति में आत्मप्रकाश करे, वह शब्दों का सहारा लेने को विवश है। हेगेल द्वारा आधारभूत वर्गीकरण में काव्य की जो श्रेष्ठता प्रतिपादित हुई है, दूसरे रूप में श्यामसुन्दर दास जी भी उसकी ताईद करते हैं। वे भी काव्य के शब्द-समूहों को मनुष्य के मानसिक भावों के द्योतक मानकर उसकी मूर्त्तता अपेक्षाकृत कम मानते हैं। वे नाद की रमणीयता में मूर्त्त आधार मानते हैं, अर्थ की रमणीयता में नहीं और इसलिये काव्य को संगीत से श्रेष्ठ मानते हैं कि काव्य के लिये अर्थआधार ही मुख्य है, नाद गौण।*

किन्तु इस विभाजन और क्रमनिर्देश का वास्तव में कोई तात्विक मूल्य नहीं है—सच तो यह है कि कविता और संगीत एक दूसरे के बहुत बड़े पोषक, बल्कि दोनों का कुछ ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि उन दोनों के बीच श्रेष्ठता-निकृष्टता की कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। इन कलाओं में सौंदर्यमूलक और रमणीयतामूलक ऐसे दो भेदों की अवतारणा का निर्देश भी किया गया है। उस दृष्टिकोण से शुरू की चार कलायें सौंदर्यमूलक हैं और उनकी स्थिति में उतना स्थायित्व नहीं है। संगीत भी उस विचार से सौंदर्य

---

* साहित्यालोचन

मूलक कला है, किन्तु उसमें थोड़ा-बहुत जो स्थायित्व है, उसका कारण उसमें काव्य-तत्व का आरोप है। काव्य के अन्तःप्रवेश के कारण ही उसमें भावों की निष्पत्ति हो सकती है।† सौंदर्य और रमणीयता में ऐसा कोई मोटा प्रभेद नहीं है। पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्रों में हम रस की धारणा नहीं पाते। वहाँ जिसे सौंदर्य रूप में विचारा गया है, उसी का विचार हमारे यहाँ रस-रूप में हुआ है। जो हमें आनन्द देता है, हममें रस का संचार करता है, वही सुन्दर है। आनन्द देने और रस-संचार करने की शक्ति ही सौंदर्य है। इसी को रमणीयार्थ या रम्यत्व भी कहा गया है। जगन्नाथ ने रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा है और अलौकिक आनन्द की ज्ञान-गोचरता को रमणीयता—रमणीयता च लोकोत्तराह्लादज्ञानगोचरता। जो आनन्द देता है, वही सुन्दर है, वही रमणीय है।

लेकिन जहाँ तक हमारा विचार है, यद्यपि संगीत शाब्दी सहायता के बिना भी अपना काम चला सकता है, फिर भी उसकी रूपमयता के लिये, पूर्णता के लिये काव्य का अंश ग्रहण करना आवश्यक ही है। इसी प्रकार रमणीयता चरम लक्ष्य होते हुए भी आकर्षण के लिये संगीत से राग-तत्व लेने की अपेक्षा काव्य को होनी ही चाहिये। राग ही आकर्षण की मुख्य शक्ति है। काव्य की कल्पना और संगीत का राग, ये दोनों अभिन्न-से हैं। भाव-जगत् में जो काम कल्पना करती है, उसी को शब्द-जगत् में राग संपन्न करता है। एक विद्वान् ने कविता को स्वर रूप में संगीत और संगीत को स्वर रूप में कविता कह कर दोनो के अविच्छेद्य सम्बन्ध को बताया है। संगीत नादात्मक और कविता वर्णात्मक होती है, पर ध्वनि दोनो में प्राण-स्वरूप है। महाकवि मिल्टन ने काव्य और संगीत को भगिनी-कलायें बताया है—ये दोनों समान रूप से गतिशील हैं। कविता में भावों की यह गतिशीलता संगीत से ही आती है। कला चाहे कोई हो, वह मूल रूप से सत्य और सुन्दर की सृष्टि है। इस सृष्टि के लिये एक प्रबल आवेग, एक निविड़ आकुलता का प्रयोजन है। जिस किसी वस्तु की जीवित सत्ता है, वह अन्य कुछ नहीं, गति की एक समष्टि है। जिस अप्रत्यक्ष रूप-तरंगों और प्राण-शक्ति की प्रेरणा से सृजन का आवेग जन्म लेता है, वह प्रेरणा मूल रूप से नादब्रह्म की है, उसी की स्थूल परिणति है शब्द, ध्वनि, मूर्च्छना। संगीत का यह जो सुर है, वही मूल और पहली बात है। पहले भावात्मक ध्वनि ही बनी, शब्दों का वर्णात्मक रूप

---

† वक्रोक्ति और अभिव्यंजना

वाद में आया। ग्रीस देश की शिल्पदेवी का नाम Muse-Mousa है, जिससे संगीत का नाम म्यूजिक पड़ा। केवल कविता ही नहीं, किसी भी प्रकार की कला में मूल रूप में संगीत के इस सुर की प्रधानता है। जिसे हम गीत म सुर कहते हैं, स्थापत्य, मूर्ति चित्रकाव्य में उसी का दूसरा नाम है सामजस्य, संगति, छन्द। रूप रेखा, भंगिमा में जो एक अभिनवता है, वही सुर है। होमर ने कहा है, जो अभिनव है, वही सबसे सुन्दर संगीत है। इस क्षेत्र में जब भी युगारंभ की, युग-परिवर्त्तन की सूचना होती है, हम पाते हैं कि उसके पीछे कोई नया सुर, नयी भंगिमा है। यह सुर, यह भंगिमा समान रूप से सभी कला के लिये आवश्यक और मूल्यवान है, काव्य के लिये तो अनिवार्य ही है। कार्लाइल ने सङ्गीतमय विचार को ही कविता कहा है। कविता का तत्व, विचार, शब्द अर्थात् उसकी सारी योजनायें संगीतमय होनी चाहिये। कवि वही है, जो इसका यथार्थ मर्म समझता है। पाल वरलेन ने कविता के लिये इस संगीत को अनिवार्य माना है, जिसके समावेश से यह अनुभूति होती रहे कि अन्तरात्मा एक ऐसे स्वर्ग की ओर धावित हो रही है, जहाँ प्रेम ही प्रेम है।

उपनिषदों में कवि और गायक को एक ही अर्थ में लिया गया है। उद्-गीथ रसों का मूल है। उद्गीथ का अर्थ है, जो ऊँचे स्वर से गाया जाय। ओंकार ही सृष्टि का आदि स्वर-गान है और सर्वप्रथम कवि (स्रष्टा) ने ओ ओम् का ही काव्य संगीत गाया। जो लोग 'कु' धातु से कवि शब्द की उत्पत्ति बताते हैं, वे कवि के माने गायक ही मानते हैं, क्योंकि 'कु' का अर्थ गायन करना है। इस संसार की हर वस्तु ध्वनि का एक एक रूप है, चित्र है। काव्य में संगीत का होना अनिवार्य ही नहीं, स्वाभाविक है। कविता संगीत-सौंदर्य के बिना कविता नहीं होगी, यह कहने के बजाय हम यह कह सकते हैं कि जो कविता होगी, उसमें संगीत अवश्य ही होगा। कविता आत्मा का संगीत ही तो है, हमारे अंतर्जगत का आकाश सङ्गीतमय है। अपने परिपूर्ण क्षणों में जीवन छन्दों में प्रवाहित होता है। काव्य के इस छन्द का ही नाम संगीत है। संगीत में जो गुण ताल के हैं, काव्य में वही गुण छन्द के हैं। इस विश्व सृष्टि के जिस स्वर से हृदय ध्वनित होकर बाहर निकल आना चाहता है, उसमें इसी विश्व व्यापी संगीत की प्रतिध्वनि होती है। प्लेटो ने सब के हृदय में एक सुप्त सङ्गीत की स्थिति मानी है। उसी सुप्त सङ्गीत के पास काव्य का मूल आवेदन है।

काव्य की भी दो दिशायें हैं, उसका प्राण, उसका रूप। काव्य की

प्राण-प्रति । रसनिवेश से होती है, जिसका श्रेय संगीत को है और रूप-विधान दृश्य-योजना से। इस प्रकार काव्य सांत और अनन्त के बीच का सेतु-निर्माण करता है, एक ओर उसका आधार छन्द है, दूसरी ओर छवि। छन्द के द्वारा वह हमें सङ्गीत की ओर ले जाता है, दृश्य के द्वारा चित्र की ओर। ध्वनि काव्य का प्राण है और चित्र शरीर।

काव्य और चित्रकला में एक प्रकार की समानता है, इसलिये कवि और चित्रकार एक-से होते हैं। वर्णछन्दमय अभिव्यक्ति काव्य है, रंग-रेखा की साधना चित्र। कुछ लोगों ने चित्र को रेखाबद्ध कविता और काव्य को शब्दबद्ध चित्र कहा है। अरस्तू ने काव्य और चित्र के गुणों में समता बतायी है। कई विचारको ने चित्र और काव्य की समता के लिये दोनों के लक्ष्य और गति-विधि की एकरूपता दिखायी है। जैसे, कल्पना का दोनों में स्थान है। काव्य में अलंकार और रीति जैसे जरूरी है, वैसे ही चित्र-सज्जा की भी शैली है और वह उसके षड़ंग—रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्य-योजना, सादृश्य और वर्णिकाभंग—में है। काव्य में प्रकृति और जीवन का निरीक्षण-पर्यवेक्षण जरूरी है, चित्र में भी; दोनों के ध्येय की भी समता है। जोशुआ रेनाल्ड्स ने काव्य और चित्र को समान भावों और शक्तियो के प्रकाशन का साधन कहा है और इस कार्य में उन दोनों की केवल साधन-भिन्नता मानी है। मिल्टन ने जैसे साहित्य और संगीत को सहोदरा-कलायें माना है, रेनाल्ड्स वैसे ही चित्र और काव्य को मानते हैं। काव्य की तरह चित्र का भी प्राण अनुकरण नहीं, कल्पना है। अनुकरण तो पालतू जीव जैसी दासता की अनुगामिता है, जिसकी अपनी कोई विशिष्टता नहीं होती। कवि जैसे तमाम के सौंदर्य का चयन करके रूप की प्रतिष्ठा करता है, चित्रकार को भी रूप-विधान के लिये इस संग्रह-वृत्ति और कल्पना का सहारा लेना आवश्यक होता है। जैसे 'मेघदूत' में यक्ष ने अपनी प्रियतमा की छवि बना कर कहा कि जगह-जगह तो तुम्हारे अंग-अंग का सादृश्य मिलता है, किन्तु किसी एक में तुम्हारे समग्र रूप की समता नहीं है—

श्यामास्वंगं चकित हरिणी प्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां वर्हभारेसुकेशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिसु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्मिन क्वचिदपि न ते चंडि सादृश्यमस्ति।

अर्थात् हे चंडि, मैं श्याम लता में तुम्हारी अंग-सुषमा, चकित हरिणी की आँखों में तुम्हारी दृष्टि, चंद्रमा में मुख-लावण्य, शिखिपुच्छ में तुम्हारी केशराशि

और नदिया की उठती लहरों में तुम्हारा भ्रू विलास देख पाता हूँ। किन्तु हाय, किसी भी एक में तुम्हारे संपूर्ण रूप की समानता नहीं मिलती।

शेक्सपियर ने 'रोजेलिंड' के रूप वर्णन में समस्त संसार की चुनी हुई वस्तुओं के उत्कृष्टतम अंश को उसके रूप में समाविष्ट किया। कवि की तरह चित्रकार भी यही करता है। उसकी रचना फोटोग्राफी नहीं होती। चित्रकार ज्योक्सिस ने हेलेन के सुन्दर मुख की रचना पाँच कमनीय कुमारियों के सौंदर्य के सार समावेश से किया और उस चित्र को सिसैरो ने 'सौंदर्य का पूर्ण आदर्श' कहा। ब्राउनिंग ने रैफेल के चित्रों की सजीवता की इसीलिये भूरि भूरि प्रशंसा की। गुइदो रेनी (१५७४-१६४२) चित्रों में अन्तरात्मा के भावों को स्पष्ट चित्रित करने में बड़े कुशल थे। उनका प्रसिद्ध चित्र 'महात्मा ईसा' ड्रेसडेन की चित्रशाला में सुरक्षित है। उनसे किसी ने एक बार पूछा कि आप अपने चित्रों के लिये इतना बढ़िया मॉडेल कहाँ पाते हैं। रेनी ने कहा—कभी आप मेरी चित्रशाला में पधारने का कष्ट करें, तो आप स्वयं देख लेंगे। महाशय जी एक दिन वहाँ पहुँचे। रेनी ने अपने रंग पीसनेवाले नौकर को पुकारा। एक अत्यन्त कुरूप आदमी अन्दर दाखिल हुआ। एक खास पोज में उसे बैठा कर रेनी चित्र बनाने लगा और कुछ देर बाद उसी ढंग से बैठी हुई एक बहुत ही सुन्दर स्त्री उसकी तूलिका से पट पर उतर आयी। आगंतुक तो अवाक् रह गये। रेनी ने कहा—महाशय जी, सुन्दर भावों का निवास तो कलाकार की कल्पना में होता है, मॉडेल में नहीं।

चित्र और काव्य में बहुत कुछ समता तो है, विभिन्नता भी कुछ कम नहीं है। काव्य में भी चित्र आते हैं, किन्तु वे चित्र शब्दों के माध्यम से कल्पना में उगाये जाते हैं, जिसका वैसा सीधा और सुसंबद्ध प्रभाव नहीं होता जैसा कि रंग-रेखाओं के चित्र का होता है। रंग और रेखायें दृश्य और घटनाओं को बड़े स्वाभाविक और आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करती हैं, जिन्हें देखते ही मस्तिष्क पर तत्काल ही एक निश्चित प्रभाव पड़ता है। काव्य चित्रों की शाब्दी व्यंजना या अर्थमयता बहुत गहरी भी हो, तो वे उसी हदतक अशिक्षितों एवं सहृदयता-संस्कार से हीन व्यक्तियों को भी प्रभावित नहीं कर सकती, जिस हदतक कि चित्र करते हैं। 'उत्तररामचरित' के प्रथम अंक में अर्जुन चित्रकारकृत राम वनवास चित्र को देखकर सीता जी बेतरह व्याकुल हो जाती हैं और उनकी विकलता देखकर राम को समझाना पड़ता है कि यह कोई प्रत्यक्ष घटना नहीं, एक चित्र है।

काव्य शास्त्र में चित्रकाव्य पर विचार किया गया है और अन्त तक उसे

उत्तम नहीं माना गया है, इसलिये कि उसमें प्राण और तत्व के बजाय बाहरी प्रदर्शन ही प्रधान होता है। मम्मट ने चित्रकाव्य के दो भेद बताये हैं—शब्द-चित्र और अर्थचित्र। चित्रों में जैसे रेखाचित्र और तूलिकाचित्र हैं, चित्र-काव्य में वैसे ही शब्द और अर्थचित्र हैं। अर्थचित्र यद्यपि शब्दचित्र से अपेक्षाकृत उत्तम है, किन्तु उसका भी खास कोई महत्व नहीं, आर्थिक चमत्कार में भी वैसी प्राणवत्ता नहीं होती। अतः मम्मट ने चित्रकाव्य की गिनती एक अलंकार में ही की है। आनन्दवर्द्धन भी चित्रकाव्य को एक अलंकारी रचना मानते हैं—रस, भाव से निरपेक्ष। उनके मत से भी चित्रकाव्य शब्दाडंबर और अर्थ-वैचित्र्य का ही एक साधन है। किन्तु चित्रकाव्य के नवीन विचारकों ने इसे यद्यपि एक शैली (चित्र व्यंजना शैली) ही माना है, फिर भी पिछले युग की तरह यह नहीं मानते कि यह महज नवसिखुओं और अपरिपक्व प्रतिभावाले कवियों का काम है, बल्कि इस रूप या मूर्त्ति-योजना को वे काव्य का एक आवश्यक अंग मानते हैं। शुक्ल जी ने शब्दचित्र और अर्थचित्र की इतनी ही सार्थकता बतायी है कि एक से बिंब-ग्रहण होता है, दूसरे से अर्थ-ग्रहण। एक से कोई जरा देर को कमल का रूप अपने अन्तःकरण में आँक लेता है, दूसरे से उसका अर्थ भर समझ कर काम चला लेता है।* इसमें भी काव्य की चित्रात्मकता की अनिवार्यता या उसकी रमणीयता की वह आस्था नहीं। अप्पय दीक्षित ने चित्रकाव्य को व्यंगार्थ रहित होने पर भी रमणीय माना है। डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त ने काव्य-आस्वादन की प्रकिया में दो कल्पनाओं की क्रिया बतायी है—शब्दश्रुति और चित्रात्मक।† कविता-पाठ के समय जो शब्द आँखों में आते है, उसी समय उनकी शब्दात्मक ध्वनि-मूलक कल्पना मन के कानों में तिरती रहती है। उच्चारण करते समय वाक् यंत्र के क्रियात्मक अनुभव, उसकी छाया भी उस पर पड़ती है। इस शब्दश्रुति के फलस्वरूप जो एक नवीन चित्त-व्यापार जन्म लेता है, काव्य के आस्वादन में वही प्रयोजक होता है। चित्रात्मक कल्पना से पाठक-चित्त में प्रत्येक काव्य-विषय के रूप उसकी शक्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में उतर आते हैं। यह चित्रात्मक कल्पना भी शब्दश्रुति कल्पना से मिल जाती है और अन्तःप्रकृति की द्योतिका बनती है।

काव्य की भाषा वस्तुतः रूप की भाषा है, एक पिछले प्रकरण में हम इसका उल्लेख कर आये हैं। कला में, काव्य में वस्तु की रूप-भावना या मूर्तिविधान

---

* काव्य में प्राकृतिक दृश्य।

† बँगला 'काव्य-विचार'।

आवश्यक है। काव्य में ऐसे चित्रों में केवल शब्दाडम्बर ही नहीं होता, वह समान रूप से मूर्त और अमूर्त दोनों को ही सफल रूप दे सकता है, बशर्ते कि कवि, कवि हो। चित्र में जिस अमूर्त की व्यंजना भर रहती है, उसका काव्य में साक्षात् वर्णन होता है। काव्य के ऐसे चित्रों के दो एक उदाहरण दिये जायें—

सेनापति ने विरहिणी का एक शब्दमय चित्र दिया है—

जो पै प्राण प्यारे परदेश को पधारे तातें
विरह ते भई ऐसी ता तिय की गति है,
करि कर उपर कपोलहिं कमलनैनि
निसिदिन अनमनि बैठिये रहति है॥
कागहि उड़ावै कबों कबौं करै सगुनौती
कबों बैठि अवधि के वासर गिनति है।
पढ़ि पढ़ि पाती कबौं फेरि कै पढ़ति कबौं
प्रीतम के चित्र में स्वरूप निरखति है॥

इन शब्दों की रंग-रेखा द्वारा सुन्दर चित्र-योजना हो सकती है। एक कमलनैनी हथेली पर गाल धरे अनमनी बैठी है। पार्श्व-योजना द्वारा कुछ और भी मार्मिक रंग रेखायें जोड़ दी जा सकती हैं, जो विरह की व्यंजना की सहायिका हों। किन्तु एक ही साथ विरहिन का अनमनी बैठना, कौआ उड़ाना, सगुनौती करना, अवधि के दिन गिनना, प्रीतम के पत्र को बार-बार पढ़ना और चित्र में उसका स्वरूप देखना, सब कुछ चित्र में दिखाना कठिन ही नहीं, असम्भव सा है। क्योंकि चित्रकला स्थायी होती है, वह किसी मुहूर्त विशेष को पदार्थों की एकरूपता में चित्रित कर सकती है। काव्य के समान उसमें गतिशीलता नहीं होती। काव्य में एक साथ अनेक परिस्थितियों, अनेक क्रियाओं का वर्णन सम्भव है। काव्य का प्रवाह समय और सीमाबद्ध नहीं होता।

सेनापति के उपर्युक्त चित्र में विरहजन्य हार्दिक व्याकुलता का एक मार्मिक रूप ही है। रूप में भाव की मर्मस्पर्शिता का समावेश तुलसीदास की इन पंक्तियों में है—

पुर ते निकसीं रघुबीर वधू धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकी भरि भाल कनी जल की पुट सूख गये मधुराधर वै॥
फिर बूझति हैं चलनोऽब कितै पिय पर्णकुटी करिहौं कित है'
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै॥

इसमें रूप, रूप के साथ भावों की मौन चेष्टा, दोनों हैं। सीता जी को

कोमलता और उनकी आतुरता देख राम के आँसुओं से प्रेम की विकलता का एक रूप खड़ा हो जाता है। नीचे की पंक्तियों में रूप, भाव और वाणी—तीनों का सुन्दर सामंजस्य है। इसमें रूप और भाव की ही आकृति नहीं, एक रमणी के हृदय को भी बाहर प्रतिष्ठित कर दिया गया है।

फूलन सों बाल की बनाई गुही बेनी लाल
भाल दीन्हीं बेंदी दृग मद की असित है।
अङ्ग-अङ्ग भूषन बनाई ब्रजभूषन जू
बीरी निज करते खबाई अति हित है॥
ह्वै कै रसवस जब दीबे को महावर के
सेनापति स्याम गह्यो चरन ललित है
चूमि हाथ नाथ के लगाइ रहि आँखिन सों
कही प्रानपति यह अति अनुचित है।

संगीत और चित्र से काव्य का सम्बन्ध है, वास्तु और मूर्त्ति से भी उसका सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध और समता सौंदर्य-साधन के ध्येय से है। वास्तु अचल है, इसलिये एकदेशीय है। मूर्त्ति, चित्र आदि के समान उसका स्थानांतरण संभव नहीं। वास्तु और मूर्त्ति में अनुपात, एकता, संतुलन आदि जो रूप-संघटन के गुण हैं, वे गुण काव्य में भी हैं। छंद, प्रबन्ध, प्रबंधकाव्यो के सर्गों की निश्चित संख्या, कविता का आकार रूप-संघटन के ही साधन हैं। प्रभाकर माचवे ने 'मासेज़' या आकाश को भरनेवाले द्रव्यमान में भी साहित्य और स्थापत्य की समता दिखायी है। साहित्य में प्रतीकात्मक रूप से चरित्रचित्रण या व्यक्तित्व के प्रस्तुतिकरण में इस 'आकाश-पूर्त्ति' की समस्या होती है। शिल्प के मिट्टी, कांसा, काठ आदि के समान साहित्य के भी द्रव्य शब्दार्थ हैं।† वास्तु की एक निश्चित निर्माण-पद्धति है, मूर्त्ति की और काव्य की भी। कलाओं के जितने भी भेद हैं, सबके मूलतत्व काव्य में आ जाते हैं—वास्तु और मूर्त्ति का संतुलन, अनुपात, एकता; चित्र की रूप-योजना; संगीत की लय और गति, काव्य में सब कुछ है। काव्य की इस विस्तृति से ही संभवतः कलाओं में उसे श्रेष्ठ गिना गया है।

जहाँ तक हमारी अपनी मान्यता है, प्रत्येक कला अपने-अपने ढंग से एक ही लक्ष्य की साधना करती है। अनन्त सृष्टि के असीम रहस्य में सत्य की, सुन्दर की जो भावमय सत्ता आभासित है, संगीत उसी को स्वर देने की चेष्टा

---

† 'वास्तु और शिल्पकला' शीर्षक लेख—'आलोचना'

है। अरूप के उसी आभास को निश्चित अर्थ और विशेष रूप में बाँधने की चेष्टा चित्र है, उसी को शरीरी बना देने की चेष्टा वास्तु और मूर्ति है और रूप के उसी अचल मूक विग्रह को गति और वाणी देने की चेष्टा काव्य है। इसके मनमाने भेद और प्रकार, श्रेणी और वर्ग विभाजन की चेष्टा चाहे जितनी हो, उनकी मर्मवाणी की एकरूपता में विषमता नहीं आती।

बंगला के साहित्यालोचक श्री नलिनीकान्त गुप्त ने कला का क्रमनिर्देश वर्णव्यवस्था के अनुसार किया है।† काव्य ब्राह्मण, स्थापत्य और भास्कर्य क्षत्रिय, चित्र वैश्य और संगीत को उन्होंने शूद्र गिनाया है। शूद्र इसलिये नहीं कि वह निकृष्ट या अधम है, बल्कि इसलिये कि संगीत सभी कला के मूल में प्रतिष्ठित है, वह सब की सेवा में संलग्न है, प्रत्येक ललित कला को वह एक गति, एक अभिनव भंगिमा, एक सुर का दान देता है। उनके मत से ब्राह्मणों के समान काव्य का प्राण ज्ञान है, ब्राह्मण के ही समान काव्य का उद्भव सहस्रशीर्ष पुरुष के मुख से हुआ है—ज्ञान की प्रेरणा से वह वाक्यों के सहारे सत्य सुन्दर की उपलब्धि एवं अभिव्यक्ति करता है—इसलिये कलाओं में काव्य ब्राह्मण है। स्थापत्य और भास्कर्य अंतरात्मा की एक संघटित शक्ति चेतना के ही दान हैं, इसीलिये कलाओं में वे क्षत्रिय हैं—सहस्रशीर्ष पुरुष के बाहुबल पर आधारित होकर ही मानों उनका उदय हुआ है। चित्र को कलाओं में वैश्य कहा जा सकता है। वैश्य का धर्म जो नैपुण्य है, जो कौशल और सजावट की वृत्ति है, चित्र में मानों वही कुशलता प्रस्फुटित है। और, संगीत है शूद्र, सबको वह धारण किये हुए है, सबकी सेवा करता है। संगीत शूद्र होकर भी महत्व में सर्वोपरि है।

सीस कान मुख नासिका, ऊँचे-ऊँचे नाँव,
सहजो नीचे कारने, सब कोउ पूजे पाँव॥

कला के इस प्रकार वर्गीकरण का कोई वैज्ञानिक मूल्य नहीं है, फिर भी इसकी जो चेष्टा है, वह इसलिये कि हमारे संस्कार में ऐसी बात है कि हम प्रत्येक वस्तु को दूसरों के आगे-पीछे, एक श्रेणी या क्रम में देखने के आदी हैं। बाह्यजगत् पर हमारी जो अपनी दृष्टि होती है, वह निरपेक्ष नहीं, आपेक्षिक होती है। जिस चीज को हम देखते हैं उसके देखने में तीन बातें सम्मिलित होती हैं—स्वत वह वस्तु, वस्तु का वातावरण और हमारा मन। रूप और अर्थ का नियता हमारा मन होता है, जिस पर उसके निजी संस्कार की विशिष्टता का

† बंगला 'साहित्यिका'।

प्रभाव पड़ता है। मन के जो मौलिक संस्कार हैं, कैंट ने उन्हें 'मस्तिष्क की श्रेणियाँ' कहा है। इन संस्कारों से परे होकर कुछ को देखना किसी के लिये संभव नहीं होता। इन संस्कारों से वस्तु को देखने में उसकी वास्तविक सत्ता ही हमारी निगाह से छूट जाती है। जब मनुष्य साक्षात् की वास्तविक सत्ता को नहीं देख सकता तो वह वस्तु को श्रेणी में रखकर देखता है। प्रत्येक वस्तु की अपनी निजी विशेषता, अपनी स्वतंत्र सत्ता हुआ करती है, जिससे वह दूसरे से सर्वथा पृथक् होती है, किन्तु इस विशेषता का स्वाद उसे नहीं मिलता। वर्गसाँ ने अंतर की अभिज्ञता के विशेष रस के साथ भी मनुष्य की इसी विवशता का उल्लेख किया है कि चिपके हुए लेबिल से जैसे हम वस्तुविशेष को देखते हैं, वैसे ही रसविशेष का परिचय भी हमें उसे श्रेणी में रखकर ही मिलता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जिस प्रकार हम वास्तव के बाहर हैं, उसी प्रकार व्यक्तित्व के भी बाहर हैं। किन्तु प्रकृति कभी-कभी किसी को जीवन के इस स्थूल क्षेत्र से परे कर देती है। कोई ऐसी दिव्यदृष्टि लेकर इस संसार में आता है, जिसके निकट संस्कार की यह स्थूलता नहीं टिक सकती।

कला का प्रयोजन

कला का प्रयोजन क्या है, इस पर शुरू से आजतक इतने परस्पर विरोधी विचार सामने आते रहे हैं कि कहा नहीं जा सकता। नैकेमुनिर्यस्य मतिर्न भिन्ना। इस विरोधी विचार शृंखला का क्रम कभी टूट भी सकेगा, इसकी भी सभावना नहीं दिखायी देती। कला का अपना जीवन दर्शन, स्वतन्त्र प्राण धर्म ही इन विरोधी विचारों का मूल कारण है। कला जीवन के कन्धे पर अलग से लदी हुई ऐसी कोई गठरी नहीं है, जो यात्रा की किसी सीमा पर उतार फेंक दी जा सके—वह जीवन-यात्रा की सहगामिनी है। मानव की इस लम्बी तीर्थ-यात्रा में वह पथ का पाथेय और गति का एक अग बन कर ही चलती आयी है, चली जा रही है। उसके रूप का जो प्रकाश वर्तमान या सामयिकता में समुद्भासित होता है, वह उसका खड रूप है। वर्तमान उसके अतीत और भविष्यत् के बीच का एक योजक सेतु है—तीनों काल के अनन्त प्रवाह में उसके रूप की जो समग्रता है, उसके प्राण धर्म की जो परम्परा है, उसकी धारणा करने जैसी वह समग्र और सुदूरप्रसारी दृष्टि सबको और सब समय सहज नहीं होती। यह दृष्टि वह नहीं है, जिसे हम डिसक्रिमिनेशन अथवा ऑबजर्वेशन कहते हैं। यह विजन् है, सर्वदर्शी दृष्टि, जो वस्तु-समूह के आभ्यतरीण सुषमा का आविष्कार करती है। जिसे 'दि हीरो ऐज पोएट' में कार्लाइल ने—'दि सीइंग आइ'' कहा है और कहा है, इट् इज दिस् दैट डिसक्लोजेज दि इनर हारमोनी ऑफ थिंगस्। अभिनव गुप्त ने जिसे साक्षात्कार-स्वरूप कहा है, उसे देखने की दृष्टि। व्यक्तिजीवन और विश्व जीवन का एक निविड़ योग है, तीनों काल और सारी मनुष्य एव जीवसत्ता के साथ मानवात्मा का जो एकात्मबोध है, अखण्डता बोध है, वह दृष्टि उसी की परिचायिका है। रवींद्रनाथ ने जिसका परिचय यों दिया है,

भूत भविष्यत् लये ये विराट् अखण्ड विराजे
से मानव माझे
निभृते देखिब आजि ए आमिरे
सर्वत्र गामीरे।

अर्थात भूत भविष्यत् के समन्वय में जो विराट् और अखण्ड रूप राजित

है, उस मनुष्य में मैं उस 'मैं' को, उस सर्वत्रगामी को एकान्त में देखूँगा।

इसलिये प्रत्येक युग कला-विषयक ऐसे प्रश्नों की मीमांसा अपनी समस्याओं, अपनी मान्यताओं के अनुरूप ढूँढ़ा करता है। व्यक्तिगत रुचि, ऐकांतिक दृष्टि के तराजू पर जब उसकी तौल होती है, तो स्वभावतया ही उसका मूल्य और मान जुदा-जुदा निर्द्धारित होता है। यह भी स्वाभाविक है कि ऐसे में उसके सच्चे स्वरूप और प्रकृत प्राण-धर्म की पूरी पहचान भी नहीं होती। रैफैल ने कला-विषयक ऐसे मतभेद के लिये एक मजे की बात बतायी है। लिखा है, सत्य की खोज में जब लोग मंदिर में हाजिर हुए, तो पुजारिन ने उन्हें एक तरह की मदिरा पीने के लिये दी। वह मदिरा किसी को मीठी, किसी को कड़वी और किसी को बड़ी तीखी लगी। मदिरा एक ही थी, किन्तु व्यक्ति के हिसाब से उसका स्वाद अलग-अलग हो गया। ठीक इसी तरह से कला की किसी भी वस्तु का मूल्य आँकने में मतभेद पाया जाता है।

रैफैल ने जो बात कला-कृति के लिये कही है, वही बात कला के लिये भी है। मतविशेष के अनुसार मूल्यांकन की जो पद्धति है, उससे अन्य अनेक लाभ चाहे होते हों, एक बहुत बड़ा नुकसान यह होता है कि उसके प्राण-धर्म की उपेक्षा, उसके पूर्ण और सच्चे स्वरूप की अवमानना होती है। कला का स्वर चिरविद्रोही होता है, आँगन के छोटे दायरे में बँधे हुए एक टुकड़ा आकाश में ही वह अपनी गूंज नहीं रखती, उसके लिये अनंत आकाश है। किसी खिँची हुई रेखा के निर्द्धारित हलके में, बँधी हुई लीक पर न तो वह आबद्ध रह सकती है, न चल सकती है। अपनी गति की वह स्वयं नियामिका है, अपने गंतव्य की खुद ही निर्णायिका भी। वह एक सृष्टि है। सृष्टि मतवाद पर नहीं बनती, मतवाद सृष्टि के अनुसार गढ़ उठते हैं। सिद्धांत को सामने रखकर जो सृष्टि बनती भी होगी, वह मुक्त आत्मा के जीवनानंद से रहित किसी कैदी के अवसादमय दुर्वह जीवन की पंगु और तेजहीन छवि ही होगी।

उपयोगी और ललित कला के बीच भेद की जो रेखा खींची गयी है, उसमें इस बात की स्पष्ट स्वीकृति-सी है कि कला जीवन के लिये वैसी प्रयोजनीय नहीं है, कि उसके बिना जीवन-यात्रा रुक जाय। यानी कला के बिना भी जीवन को जिया जा सकता है। इसके बावजूद उसको एक मर्यादित रूप देने के लिये ही यह कह दिया गया है कि यह 'अप्रयोजन का आनन्द' है, 'अतिरिक्त लाभ' है। इस अतिरिक्त लाभ या अप्रयोजन के आनन्द

को सीधे और साफ शब्दों में कहा जाय, तो वह यही होगा कि अपने जैविक अस्तित्व को कायम रखने के लिये नाना अभाव-अभियोगों में यह जो एक जीवन सग्राम है, जीवन धारण का यह जो अनन्त विराट् आयोजन है, उसमें कला हमारे किसी काम नहीं आती। रवीन्द्र ने एक कविता मे इसे और स्पष्ट रूप मे कहा है। विश्व-सृष्टि की अधिष्ठात्री देवी जब सौंदर्य शिल्पी से पूछती है कि तू मेरे किस काम आयेगा, तो वह रूपदक्ष कहता है, मै सारे निकम्मे काम करूँगा, आलस्य का हजारों हजार सचय।* इसी को कहीं उन्होंने 'अहेतुक आनद' भी कहा है, कहीं खेल। खेल के आनद का कारण उनकी राय में यह है कि प्रयोजन पूर्त्ति के लिए हम जिन प्रवृत्तियों को अपने जन्म के साथ साथ लेते आये हैं, उनकी मौजूदा जिम्मेदारी से मुक्त करके उन्हें हम खेल में प्रकट कर पाते हैं। यह फल की आसक्ति से रहित कर्म है, यहाँ काम ही चरम लक्ष्य है, खेल में ही खेल का अन्त।† अवश्य रवींद्र ने अप्रयोजन का तात्पर्य विशुद्ध जैविक सत्ता के प्रयोजन से और कुछ भिन्न लिया है। सभवत उसका विभाजन स्थूल और सूक्ष्म प्रयोजन हो। प्रयोजन स्थूल हो या सूक्ष्म, मूलत प्रयोजन ही है। स्थूल प्रयोजन अगर हमारे हैं, तो सूक्ष्म प्रयोजन हमारे न हों या प्रयोजन ही न गिने जायें, इसमें कोइ योक्तिकता नहीं। स्थूल और सूक्ष्म—ये दोनों प्रयोजन एक नहीं है, यहाँ तक तो बात सगत है, सूक्ष्म हमारा प्रयोजन ही नहीं है, इसे हम नहीं मान सकते। आज के कर्म सकुल काल में किसी महानगरी की वास-व्यवस्था में हम जैसी जनाकीर्णता देखते हैं, उससे जीवन की दुर्वहता का कारुणिक अभिशाप सहज ही समझा जा सकता है। कलकत्ते की एक अट्टालिका, बम्बई की एक इमारत में एक-एक गाँव से भी अधिक जन सख्या ठूँस कर भरी गयी है। इनके इस अवरुद्ध, दम घुटते जीवन को देख-सुन लेने के बाद महलों के उन नगरों मे कोने कतरे में बसे छोटे-मोटे सार्वजनिक उद्यानों का अनिवार्य प्रयोजन समझा जा सकता है। उन निवासों से उन उद्यानों की जरूरत कुछ भी कम है, किसी भी प्रकार से नहीं कहा जा सकता।

एक कवि है, एक सगीतज्ञ है। उनकी काव्य या सगीतिक सत्ता उनकी जीवन-सत्ता पर लादा हुआ कोई निरर्थक शृगार, निष्प्रयोजन बोझ है, ऐसा कहने का कोई कारण नहीं है। ये कलाविद् आहार विहार के बिना कुछ

---

* आकाजेर काज यत आलस्येर सहस्र सचय।

† साहित्येर पथे

दिन काट सकते हैं, काव्य-संगीत के बिना उनका एक दिन भी नहीं चलता। यदि उनकी वांछित वस्तु की परिपूर्त्ति नहीं होती है, तो मानना होगा कि उनकी जीव-सत्ता क्षुण्ण और कुंठित होगी। अन्न-पानी की तरह वह भी उनकी आवश्यक खूराक है—वह भी उनकी जैविक सत्ता का नितांत अपरिहार्य प्रयोजन है। कवि की काव्य-सत्ता भी उसकी जैविक सत्ता में एकांत अंगीभूत है। यह बात केवल कला-क्षेत्र में ही नहीं, सर्व-साधारण के लिये भी प्रयुक्त है, सब की जैविक सत्ता एक नहीं होती। हमलोगों ने उस सत्ता और उसके प्रयोजनों का जो एक सर्वजनीन और सर्वकालिक रूप मान लिया है, यही हमारी भूल है। जिसे हम प्रयोजन कहते हैं, वास्तव में उसका अर्थ अपेक्षित होता है, निरपेक्ष नहीं। जीवन की जरूरतो की जो एक सर्वमान्य तालिका हम बना लेते हैं, उन मोटी जरूरतों में ही सभी जीव-सत्ता की जरूरतें नहीं आ जातीं—उनके अतिरिक्त अपनी-अपनी जरूरत भी होती है और वह ऐसी नहीं होती कि किसी प्रकार भी टाली जाय। सुनते हैं, वाल्टह्विटमैन जब तक बर्फ पर पाँव नहीं रगड़ते थे, उन्हें लिखने की प्रेरणा नहीं जगती थी। एक कवि बिना लाल कागज के लिख नहीं सकते थे, एक को भावों का आवाहन शहर के साइनबोर्डों को पढ़कर करना पड़ता था। कहते हैं, वाजिदअली शाह, जब तक मन दो मन की चट्टान को गला कर ढेला नहीं बना दिया जाता था, तब तक नमक को खा नहीं सकते थे। रंगून की नजरबन्दी में काफी खर्च के बाद उन्हें जो खाना दिया जाता था, उसे वे छू कर ही छोड़ देते थे, क्योंकि नमक वैसा नहीं था! खुद रवींद्र के बारे में ही यह कहा जा सकता है कि कलकत्ते में बड़ा बाजार के किसी तङ्ग कमरे में एक लखपती व्यापारी का सारा-काम-काज चल जाता है, किन्तु रवींद्रनाथ 'उत्तरायण', 'श्यामली' या 'पुनश्च' के वातावरण को भी प्रयोजनीय मानते रहे होंगे। अपनी-अपनी जैविक सत्ता के लिये अपने-अपने-से प्रयोजन भी नितांत आवश्यक हैं। कला की सृजन-प्रेरणा या कला-प्रेम की प्रवृत्ति भी निस्सन्देह हमारी जीव-सत्ता का ही एक अङ्ग है। जीवतात्विकों और मनःसमीक्षाशास्त्रियों ने इसका विचार-विश्लेषण भी किया है।

अरस्तू ने प्लेटो के समान प्रकृति के अनुकरण की प्रवृत्ति को ही कला की मूल प्रेरणा कहा है, किन्तु बार-बार उन्होंने यह जतलाया है कि प्रकृति से तात्पर्य सृष्टिपदार्थमयी वाह्य प्रकृति नहीं, विश्व, सृष्टिक्षमा-शक्ति और उसमें निहित ध्रुवसत्य से है। हेगेल ने जन्मजात सौंदर्य-प्रेम को आत्मप्रदर्शन की प्रेरणा और अनुकरण को कला-प्रेरणा कहा है। उनकी राय में आत्मा

अपने ज्ञान सौंदर्य को जिन जिन रूपों मे व्यक्त करती है, उनमें से सर्वापेक्षा और सहजरूप साहित्य तथा कला है। इस तरह आत्मा के आनन्द-स्रोत के प्रकाश्य प्रवाहित स्रोत को उन्होंने कविता कहा है। क्रोचे अपने अभिव्यजनावाद मे इस प्रेरक प्रवृत्ति के लिए इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मनुष्य के मन में वाह्यजगत् के नाना पदार्थों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अनेक छाया चित्र तिरते रहते हैं, अनुभूति के विशेष मुहूर्त्तों मे उसके स्वास्थ्य के लिये उनका व्यक्तीकरण अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार उन्होंने माना है कि अभिव्यक्ति अनिवार्य है। दूसरे शब्दों मे हम यह कह सकते हैं कि वैसी विशेष स्थिति में अभिव्यक्ति के बिना रहा नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति भी जैविक सत्ता के अन्य अनिवार्य प्रयोजनों के समान ही अपरिहार्य है।

ऐतिहासिक सूत्रों का अवलम्बन लेकर जिन्होंने कला के स्वरूप का विवेचन किया है, उनमें से कुछेकों की राय है, कला का यह जो प्रयोजन निरपेक्षरूप आज है, यह युग-युग के क्रम विवर्तन की परिणति है। पहले रस-बोध या सौंदर्य-बोध हमारे प्रयोजन बोध के साथ ही एकागी रूप से सम्बद्ध था। आज शतदल कमल की तरह उसके निर्लिप्त अस्तित्व को किसी हद तक यदि स्वीकार भी किया जाय, तो इतना तो मानना ही होगा कि उसे बहुत कीच-पानी झेल कर ही इस रूप मे आने का अवसर मिला है। किसी दिन आदम ने हवा और हवा ने आदम के रूप को जिस दृष्टि से देखा था, वह दृष्टि नर-नारी के बीच आज भी है, जिसकी आड़ मे अतनु के पचशर तने हैं। जीव तात्विक केवल मनुष्यों के लिये ही नहीं, सारे जीव-जगत् के लिये इस सत्य की ऐतिहासिकता को मानते हैं। उनकी राय में इस सौंदर्य-बोध के बिना चूकि सृष्टिक्रम मे पूर्ण विराम पड़ जाता, इसलिये प्रकृति ने स्वय इसका आयोजन किया है कि सृष्टि-प्रवाह अव्याहत रहे। सौंदर्य की वेदी पर नर द्वारा नारी-वन्दना का यह क्रम शुरू से आ रहा है—आज भी उसमे कोई व्यवधान नहीं आया है। आज भी नारी को काव्य कहा जाता है—पोइट्री इज वोमन्।

मनोवैज्ञानिकों में फ्रायड, अडलर और युग ने काम वासना को ही कला की मूल प्रेरणा कहा है। फ्रायड ने काम दमन की ग्रन्थियों आदि का विस्तार से विश्लेषण करके यह बतलाया है कि स्वस्थ रूप में काम का उपयोग न करके जब उसको चिंतन में परिवर्त्तित किया जाता है, तो साहित्य की सृष्टि होती है, अस्वस्थ रूप में काम अभुक्त रह कर भाव-चित्रों की सृष्टि करता है। प्रत्यक्ष जीवन की अतृप्त वासना अन्तर्मन में रहती है और उस

क्षण, जब कि चेतन मन जागरूक नहीं होता, वह वासना अपने को तृप्त करने की चेष्टा करती है। और, फ्रायड काम को न केवल कला की बल्कि जीवन की ही मूल प्रेरणा मानते हैं। अडलर साहित्य या कला-रचना को किसी क्षति के पूरक रूप में ही मानते हैं। जीवनगत अभावों की पूर्त्ति ही साहित्य-कला है। जीवन में जो हमें उपलब्ध नहीं, कल्पना द्वारा हम उसे ही ढूँढ़ते हैं। उनके अनुसार जीवन की मूल प्रेरणा मनुष्य की चिरंतन हीनता की भावना ही होती है। युंग के अनुसार साहित्य-कला आत्मरक्षा का ही स्वरूप है। धर्म, इतिहास, विज्ञान मनुष्य की आत्मरक्षा के प्रयोजन से ही सम्बन्धित हैं। इस प्रकार युंग जीवन की मूल प्रेरणा जीवनेच्छा को मानते हैं। उनके मत से, मनुष्य की सब प्रकार की चेष्टायें अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिये ही होती हैं। साहित्य भी मनुष्य का वैसा ही एक प्रयत्न है।

संपूर्णतया इनसे सहमत न होते हुए भी हम यह कहेंगे कि कला मनुष्य की जैविक सत्ता का ही एक प्रयोजन है। उसे हम वृंतहीन फूल या आकाश-कुसुम नहीं मानते; अमरलता भी कहें तो मानना पड़ता है कि माटी-कादो में जीभ रोपकर रसपान न करने पर भी उसी क्रिया से अस्तित्व कायम रखने वाले किसी पेड़ के कंधों का उसे सहारा लेना ही पड़ता है। किन्तु हम तो उसे पंकजात तक मानने को तैयार हैं, पंकधर्मी नहीं मानते। जीवन मन की सारी कटुता, जगत् के सारे मालिन्य के ऊपर ही वह आत्मप्रकाश करती है। उसकी जड़ मिट्टी में होती है, फूल आकाश में खिलते हैं और वह आकाश के आलोक-पुंज की ज्योति बटोरकर अपने उज्ज्वल सौरभ, निर्लिप्त आत्म-रस का दान करती है। कला की यह यात्रा लोक से लोकोत्तर की है, कला की यह चेष्टा गोचर से अगोचर के ज्ञान की है। इसलिये यह भाव-विलास नहीं, अप्रयोजन नहीं, जीवन की आत्मीय है।

मूलतया हम दो जगत् के वासी हैं। वह एक जगत् तो हमारा अनुभूत अन्तर्जगत् है, दूसरा परिदृश्यमान वहिर्जगत्। ये दोनों ही जगत् हमारे ज्ञान और अनुभूति में सत्तावान् हैं। हमारी ज्ञान और कर्मेंद्रियां समान रूप से बुद्धि सत्तामय अन्तर्जगत् और रूप, रस, गंध, प्राणमय वहिर्जगत् की केन्द्र हैं। हमारा 'मैं' समान रूप से दोनों लोक का विहारी है—इसलिये उसका स्वरूप एक साथ सत्ता का, संवित् का और आनन्द का होता है। शास्त्र ने इसी पुरुषीय सत्ता या जीव-सत्ता को पाँच कोष या सत्ता में रख कर देखा है—वे सत्ता या कोष हैं—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और

आनन्दमय कोष। जैविक सत्ता के लिये जिन स्थूल प्रयोजनों को हमने एकमात्र जीवन प्रयोजन मान रक्खा है, उनका सबध अन्न, प्राण और बहुत तो मनोमय कोष से ही है। उन स्थूल प्रयोजनों में मानव-जीवन सीमित है, यह हम नहीं मानने के। वह जीवन तो पशु जीवन है, जिनमें कि विज्ञान और आनन्दकोष के प्रयोजन का उन्मेष ही नहीं हुआ है। वे आहार, मैथुन और निद्रा पाकर ही पूर्ण हैं, उनकी जीव-सत्ता का उतना ही प्रयोजन है। भर्तृहरि ने पशु और मनुष्य में समता कहाँ मानी है, कहते हैं,

साहित्य सगीत कला विहीन ।
साक्षात् पशु पुच्छविषाणहीन ।

यानी जिस मनुष्य में सगीत, साहित्य, कला नहीं है, वह बिल्कुल पशु समान है, फर्क इतना ही है कि उसके सींग पूछ नहीं होती।

सगीत, साहित्य, कला—ये सब मनुष्य के उसी विज्ञान और आनन्दमय सत्ता के दान हैं। इसी स्थिति में हमारी सारी सुकुमार वृत्तियाँ जागती हैं, सौंदर्यबोध, रसबोध, श्रेय प्रेय - बोध, धर्मबोध—सब। बिना इन दो सत्ताओं के जैसे जीवन की पूर्णता नहीं है, वैसे ही साहित्य, सगीत, कला के बिना ये दो सत्तायें पूर्ण नहीं होतीं। जीवन और चारुकला का यही निविड़ एकात्म योग है। विज्ञान और आनन्दमय सत्ता के स्फुरण से ही आत्मोपलब्धि होती है, जीवन में जिसकी सबसे बड़ी सार्थकता, सबसे बड़ा आनन्द है—इसी स्थिति में नित्य प्रकाशशील 'मैं' और स्थिर 'मैं' एक हो जाता है, जैसे आकाश और वायु। इसी आत्मोपलब्धि को श्रुति ने कहा है,

आत्मलाभान्न परं विद्यते ।

आत्मलाभ की अपेक्षा श्रेष्ठ अन्य कुछ नहीं।

उपलब्धि कोई भी हो, वह भावमय, प्रत्यक्ष बोधमय होती है। साहित्य और कला द्वारा विषय के माध्यम से हम अपने को, अपनी आत्मा को ही चीन्हते हैं—यही आत्मानुभूति, यही आत्मोपलब्धि है, जो काम्य है। जो भी अपने अनुराग और प्रीति से आत्मसात् होता है, मेरी चेतना के अगीभूत होकर जिससे आनन्द स्वरूप का प्रकाश होता है, वह मेरा ही है, वही मैं हूँ। कला इस आत्मोपलब्धि का साधन होने से हमारे लिये प्रयोजनीय है।

एक बात और। सृष्टि का एक सनातन धर्म है कि वह जीवन के किसी बाहुल्य को कभी अगीकार नहीं करती। काल के प्रबल आवर्त्त में हर प्रकार का बाहुल्य किसी न किसी रूप में नष्ट हो जाता है। यदि कला सचमुच

ही जीवन के लिये ऐसी कोई निष्प्रयोजनीय वस्तु होती, तो कालचक्र के क्रमविवर्त्तन में उसके अस्तित्व का अवश्य ही नाश हो गया होता। उसकी जगह हम युग-युग-से कला के अस्तित्व को न सिर्फ कायम ही पाते हैं, बल्कि जीवन में दिनों दिन उसकी नींव सुदृढ़ होती जाती है और शाखा-पल्लव में वह छाया-सघन ही होती जा रही है। अप्रयोजनीय किसी वस्तु को प्रकृति का नियम यह सुयोग-सुविधा कभी नहीं दे सकती।

कला का वास्तविक लक्ष्य या प्रयोजन आनन्द है। आलंकारिकों ने इस आनन्द को ह्लाद, आह्लाद, चमत्कार, निर्वृति आदि अनेक शब्दों द्वारा बताया है। जैसे, सहृदय हृदयाह्लादि (ध्वन्यालोक), लोकोत्तराह्लाद-जनक (रस गंगाधर), सद्यः परिनिर्वृतये (काव्यप्रकाश)। अंग्रेजी में भी इस आनन्द के अनेक प्रतिशब्द हैं—प्लेज़र, डिलाइट, जॉय, हैपिनेस आदि। विभिन्न विचारकों ने उसे विभिन्न रूप से समझाया है। किसी ने 'सुप्रीम हैपिनेस', किसी ने 'जॉय फॉर एवर', किसी ने 'प्योर ऐण्ड एलिवेटेड प्लेज़र' तो किसी ने उसे 'डिलाइट' कहा है। खुद अरस्तू ने उसका स्थल-स्थल पर अलग-अलग ढंग से उल्लेख किया है। यथा,

दि ऑब्जेक्ट ऑफ पोइट्री, ऐज ऑफ ऑल दि फाइन आर्ट्स, इज़ टु प्रोड्यूस ऐन इमोशनल डिलाइट, ए प्योर ऐण्ड एलिवेटेड प्लेज़र।❀

ईच इज़ ए मोमेंट ऑफ जॉय कम्प्लीट् इन् इट्सेल्फ, ऐंड बिलोंग्स् टु द आइडियल स्फेयर ऑफ सुप्रीम हैपिनेस।*

इसके अतिरिक्त अरस्तू ने इसी आनन्द को—ए सेन् ऑफ होल्सम प्लेज़र (धीर और हितकारी आनन्द), नोबुल इमोशनल सैटिसफैक्शन (भावोद्भूत महान् तृप्ति), रिफाइन्ड प्लेज़र (परिमार्जित आनन्द) और प्लेज़रेबुल काम (आनन्दमय प्रशांति) कहा है। बर्गसाँ ने काव्य-कला की इस आनन्दमय प्रशांति को इस रूप में कहा है कि सच्ची कला का लक्ष्य हमारे व्यक्ति पुरुष के कर्मचंचल शक्तियों को सुला देना है और हमें एक ऐसी विशुद्ध स्थिति में उन्नीत करना है, जहाँ हम अभिव्यक्त भावानुभूति जैसी ही अनुभूति कर सकें। क्रोचे इसी कर्मचंचल अवस्था (ट्रबुलस इमोशन्) से पार होकर अंतःप्रवेश

❀ सारी सुकुमार कलाओं के समान काव्य का उद्देश्य भी भाव-समुत्थ आनंद, शुद्ध और उच्चभूमि का आनन्ददान है।

* प्रत्येक अपने आप में पूर्ण एक आह्लाद के मुहूर्त्त तथा परम आनन्द के आदर्श लोक में उसका वास है।

द्वारा (प्रोफाउंड पेनिट्रेशन) विशुद्ध काव्यानन्द (प्योर पोएटिक जॉय) की स्थिति बताते हैं।

आलंकारिकों में से किन्हीं किन्हीं ने रस को भी आनन्द कहा है। किंतु बहुतों ने दोनों के बीच एक सूक्ष्म पार्थक्य भी माना है। जैसे, उपनिषद् ने ब्रह्मस्वरूप का जो निर्देश किया है—

रसो वै स, रस ह्येवाय लब्ध्वानंदी भवति।

वे रस हैं। उसी रस को प्राप्त कर जीव आनंदीभूत होते हैं। यहाँ भी रस ठीक ठीक आनन्दवाचक नहीं प्रतीत होता, यहाँ भी आस्वादन की अपेक्षा रह जाती है। काव्य प्रयोजन विचार में मम्मट ने 'सद्य परनिर्वृतये' की व्याख्या में यह कहा है कि काव्य पाठ के साथ रसास्वादन से जो आनन्द उद्भूत होता है'। स्पष्टतया मम्मट ने भी आस्वादन की गुंजाइश रक्खी है। किंतु अभिनव गुप्त ने आनंद के आस्वादन को ही रस माना है। 'काव्यालोक' में डा० सुधीरकुमार दास गुप्त ने इस असामंजस्य पर अपने विचार दिये हैं कि मम्मट भाव को याद रखकर रस के सूत्र से आनंद का लक्ष्य करते हैं—उनका उद्देश्य यह प्रतिपादित करना है कि काव्य का श्रेष्ठ लक्ष्य निर्वृति अथवा आनंद है। अभिनवगुप्त वास्तव में उद्देश्य विचार के बजाय रस की सत्ता बताना चाहते हैं, इसलिये उन्होंने सच्चिदानंद की चर्चा पहले की है।

रस विचार के सूक्ष्म पहलू पर विचार यहाँ अपना अभीष्ट नहीं है। उसमें सूक्ष्म प्रभेद शायद हो, किंतु बहुत बार रस आनन्द का पर्यायवाची भी बन गया है। साहित्य-दर्पण के काव्य का जो सूत्र विशेष मान्य है, वह है रसात्मक वाक्य ही काव्य है और 'काव्य प्रकाश' में मम्मट ने कवि की वाणी को ह्लादैकमयी, ह्लादस्वरूपा ही कहा है। अत काव्य यदि रस है और कवि की वाणी यदि आनन्दमयी है तो प्रकारांतर से आशय एक ही होता है। 'दशरूपक' के एक श्लोक से रस और आनन्द लगभग एक ही ठहरता है।

स्वाद काव्यार्थ सम्भेदाद् आत्मानद समुद्भव।

अर्थात् काव्य के द्वारा जिस अर्थसमूह का प्रकाश होता है, उसके संयोग से जिस आत्मस्वरूप आनन्द का उद्भव होता है, वही स्वाद या रस है। शेली ने काव्य में सर्वदा आनन्द का अवस्थान माना है। पोइट्री इज एवर एकॉम्पैनीड् विथ् प्लेजर—काव्य सदा आनन्द से ओतप्रोत रहता है। वर्ड्स-वर्थ की भी यही स्वीकृति है कि पाठकों के आगे चाहे जिन भावों का ही

परिवेशन क्यों न किया जाय; यदि उसका चित्त शुद्ध और सजग है तो उन भावों से निरतिशय आनन्द सदा ही अनुस्यूत रहता है। फिर भी यह निर्णीत तथ्य नहीं है, और बहुल विवादों से उस निर्णय तक जाने की हमें जरूरत नहीं है। हम कहना चाहते हैं, काव्य का लक्ष्य आनन्द है।

ऐसे तो काव्य-कला की बड़ी-बड़ी स्तुतियाँ हैं, वह अर्थ धर्म काम मोक्ष देने वाली मानी गयी है। आज के युग में ऐसी मान्यताओं का न तो मूल्य है, न महत्व। किन्तु मम्मट भट्ट ने जो फल काव्य का बताया है—वह है, काव्य यश, अर्थ, लोक-व्यवहार-परिज्ञान, अमंगल-विनाश, परम आनन्द-लाभ और कांता सम्मित उपदेश-प्रयोग के निमित्त है।* 'काव्यानुशासन' में हेमचंद्र ने लगभग इसी बात की पुनरावृत्ति की है।† रुद्रट् ने भी दूसरे रूप से यह कहा है कि कवि अर्थ की प्राप्ति अनर्थ का नाश और सुख ही प्राप्त नहीं करता वरन् वह जो भी चाहता है, प्राप्त करता है।‡

यश और अर्थ प्राप्ति काव्य का प्रयोजन है, किन्तु गौण। काव्य दो वस्तुओं की सिद्धि प्रकारान्तर से कराता है—कवि के लिये कीर्त्ति और पाठक के लिये प्रीति—प्रीति यानी आनन्द।

प्रीति करोति कीर्त्तिं च साधु काव्य निषेवणम्।

इस यश की कामना में बहुत हद तक आत्म-विस्तार और स्थायित्व की आकांक्षा ही मूल रूप से होती है। बहुतों में और बहुत दिनों के लिये अपने को स्थापित करने की जो एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है, उसे बहुतों ने सब प्रकार की कला-सृष्टि की मूल प्रेरणा माना है। रवींद्र ने 'साहित्य' में ऐसा ही कुछ कहा है। अनेक हृदयों में अपने को अनुभव कराने की एक स्वाभाविक इच्छा मनुष्य के मानसिक भावों की होती है। संग्रह और प्रसार ये दोनों मनुष्य के जन्मजात गुण हैं। मनुष्य सहानुभूति से संसृति के सुख-दुख को बटोरता है और अभिव्यक्ति के सहारे अपने मन की बात को संसार को बताता है। यह भी काव्य का एक गुण है, किन्तु सर्वापेक्षा श्रेष्ठ नहीं। व्यवहारकुशलता और अमंगलनाश के लिये अब काव्य की शरण में जाने का युग नहीं रह गया। 'कांता सम्मित' उपदेश की बात पर कुछ लोग

---

* काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कांतासम्मितयोपदेश युजे॥

† काव्यमानन्दाय यशसे कान्तातुल्योपदेशाय च।

‡ अर्थमनर्थोपशमं सममथवा मर्तयदेवास्य।

शायद हामी भरें। मम्मट ने इस उपदेश के भी तीन प्रकार बताकर कांता सम्मित उपदेश की विशेषता बतायी है। एक तो होता है आदेश, वेदवाक्य जैसे। दूसरा सुहृद् का परामर्श, जैसे धर्मशास्त्रों के विधि निषेध और तीसरा मञ्जुभाषिणी प्रेयसी के उपदेश। प्राचीन ग्रीस और इटली में 'प्रीतिपूर्वक शिक्षादान' काव्य का एक मुख्य उद्देश्य था, जिसे 'प्लेजरेबुल इन्सट्रक्शन' 'डिलाइटफुल टीचिंग' कहा जाता था। प्लूटार्क ने काव्य को 'दर्शन की प्राथमिक पाठशाला' ही बताया है। सब कुछ के होते हुए भी काव्य के इस उद्देश्य को भी हम प्रमुख नहीं कहेंगे। काव्य द्वारा शिक्षा और नीति प्रचार के पृष्ठपोषक आज भी अनेक हैं और शुरू से आज तक इस पर बहुत वाद विवाद होते आ रहे हैं। एक दल सुनीति और शिक्षा का पृष्ठपोषक रहा है, दूसरा विशुद्ध आनन्द दान का। कुछ समन्वयवादी भी हैं, जिन्होंने कला और काव्य से दोनों बातों की प्रयोजन सिद्धि मानी है। कविता के लिये कुछ सशक्त आनन्दवादियों की राय का उल्लेख कर देना यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

ब्रैडले ने तो काव्य के लिये ही काव्य कहा है। उनके अनुसार काव्य के तीन अर्थ निकलते हैं (१) कविता लक्ष्य विशेष का साधन नहीं, स्वयं लक्ष्य है, (२) कविता का उपयोग इसीलिये होना चाहिये कि वह कविता है और (३) उसका अपना स्वाभाविक मूल्य ही उसका वास्तविक महत्व है। ब्रैडले ने अन्य प्रयोजनों—यश, अर्थ, धर्म, शिक्षा—की चर्चा की है और कहा है कि काव्य के ये बाहरी प्रयोजन भी हो सकते हैं, मगर ये काव्य के लिये वैसा महत्व नहीं रखते।

रिचर्ड्स ने धर्म, जातीयता, धन, यश, शिक्षा आदि को न तो कविता का मुख्य विषय माना है, न उस कविता को महत्व दिया है, जिसमें लक्ष्य स्वरूप ये बातें आती हैं। उन्होंने कविता का लक्ष्य स्वयं कविता को बताया है—इट मीन्स इट्सेल्फ—कविता का अपना ही संसार है, एक स्वतंत्र, संपूर्ण और सर्वाङ्गीण संसार।

स्पिनगार्न का कहना है, नैतिक दृष्टि से कला की कसौटी की जो अघपरंपरा है, उसे हम अब छोड़ चुके हैं। कला का काम न तो आनन्द दान है, न नीति प्रसार। कला का उद्देश्य इन दोनों में से एक भी नहीं है, न दोनों है। उसका एक मात्र लक्ष्य अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति के पूर्ण होते ही कला का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है, सौंदर्य स्वयं अपना साध्य है। सौंदर्य की स्थिति सत्य और शिव दोनों ही क्षेत्रों से परे है। कला को नीति

विरोधी कहना वैसी ही बात है कि हम किसी गान या किसी अट्टालिका को आचारशून्य कहें।

बाहुल्य की ओर न जाकर हम कुछ सशक्त नीतिपोषकों की राय का संक्षेप में यहाँ उल्लेख कर देना चाहेंगे।

कला में नीति के सबसे बड़े हिमायती टॉल्सटॉय रहे हैं। उनके मतानुसार कला का मुख्य उद्देश्य जीवन का सुधार है। वह भी सामान्य जीवन का ही सुधार नहीं, उसके अतिरिक्त कुछ। नीति और धर्म को ही उन्होंने कला की कसौटी माना ताकि यह देखा जा सके कि किस हद तक उसका जीवन पर अच्छा या बुरा प्रभाव पड़ता है।

मैथ्यु आर्नल्ड ने नैतिकता विरोधी काव्य को जीवन का विरोधी माना है। गाँधीजी ने कला की सार्थकता वहीं तक मानी है, जहाँ तक कि वह जीवन के लिये उपयोगी है। आचार्य शुक्ल, प्रेमचन्द, आदि ने भी लोक-मङ्गल को ही कला का मुख्य प्रयोजन कहा है। इस विचार-परम्परा के पीछे अन्य अनेक विचारकों के नाम हैं।

इन दोनों की सिद्धि स्वाभाविक तौर से कला द्वारा होती है, ऐसे समन्वय-वादियों की संख्या भी थोड़ी नहीं है। ड्राइडेन कहते हैं, यदि एक मात्र नहीं तो कम से कम प्रधान उद्देश्य कविता-कला का आनंद-दान ही है। होरेश ने स्पष्टतया दोनो को कबूल किया है। उनके मुताबिक कवि का काम या तो शिक्षा देना होता है या आनन्द-वितरण करना या दोनों को संयुक्त कर देना। इसलिये समीचीन है कि जो यथार्थ है, जो उपयोगी है, उसे आनन्ददायक के साथ मिला दिया जाय। अति आधुनिक आलोचक कवि इलियट पहली साँस में तो कला में नैतिक-शिक्षा, धार्मिकता, राजनैतिक लक्ष्य-प्रचार से साफ इनकार कर जाते हैं और फिर सम्हल कर कहते हैं कि उसका सबंध धर्म, नैतिकता और शायद राजनीति से भी है, मगर हम कह नहीं सकते कि वह संबंध है क्या। डा० देवराज ने मम्मट के कांता सम्मित उपदेश से इसका मिलान करते हुए यह संदेह प्रकट किया है कि मम्मट के कांता सम्मित विशेषण का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि मम्मट इलियट की भाँति यह ठीक-ठीक बताने में असमर्थ हैं कि किस प्रकार काव्य-कला नैतिक-शिक्षण का कार्य सम्पन्न करती है। यही संदेह उन्होंने रिचर्ड्स की 'इन् सम स्पेशल केसेज़' (किसी विशिष्ट अर्थ मे) उक्ति पर भी प्रकट की है।*

---

* 'साहित्य का प्रयोजन' शीर्षक लेख।

राता सम्मित उपदेश कहने वाले मम्मट ने नैतिक शिक्षा-सपादन किस हदतक काव्य से सपादित होता है, इसका मर्म समझा या नहीं समझा, उन्होंने स्पष्टतया ही उसे गौण माना है। यही नहीं, प्राचीन अन्य अनेक आलकारिकों ने लोक हित साधन को गौण ही माना है। भरतमुनि ने नाट्य के अनेक फल बताते हुए एक स्थान पर लिखा—

धर्म्यं यशस्य मायुस्यं हित बुद्धि विवर्द्धनम्।
लोकोपदेश जनन नाट्यमेतद् भविष्यति॥

अर्थात् नाट्य धर्म, यश और आयु की वृद्धि करेगा, लोक-मगल करेगा, बुद्धि बढायेगा और उपदेश दान करेगा।

इसके भाष्य म अभिनवगुप्त ने अपना मंतव्य दिया है कि नाट्य क्या गुरु के समान उपदेश देता है? नहीं, वह उपदेश नहीं देता किन्तु वह बुद्धि बढाता है और अपने सदृश प्रतिमा का ही वितरण करता है।

'शिल्प रत्न' में स्पष्ट रूप से शिल्प के लोक हित साधन गुण का निषेध है।*

आनन्द और नीति के इस विचार-वितर्क के क्षेत्र से कला की ही दुनिया में हम इसका निर्णय ढूँढे तो अधिक उपयुक्त होगा।

अमर चित्री रूबेन्स के दो विश्व-विश्रुत चित्रों की बात ली जाय। एक चित्र है प्रमत्त हरक्युलिस और दूसरा धर्मवीर। पहले में नशे में चूर विशाल हरक्युलिस खड़ा है और उसके आस-पास नग्न सुन्दरियों की भीड़ है। उस मत्तता में उसकी आत्मशक्ति लुप्त होती जा रही है—दो ओर से दो मूर्त्तियाँ एक पाप एव दूसरी लालसा (पाप की बड़ी वीभत्स और लालसा की बड़ी मोहक प्रतिमा चित्रित है) उसे खींचे जा रही हैं—जानें किधर, किस अनजान मार्ग पर।

धर्मवीर चित्र (चैंपियन ऑफ वर्च्यु) में रूबेन्स ने एक युवक को अकित किया है, जिसे मूर्तिमती सुन्दरता जयमाल्य पहना रही है। उस आत्मबलशाली युवक ने एक नग्न और सुरूपा युवती के आलिंगन के प्रलोभन को जीत लिया है।

आप कहेंगे, दोनों ही चित्र हमें अच्छा सकेत देते हैं, एक पाप की गहरी दिशा के संकेत से, दूसरा पापेच्छा पर आत्मबल की विजय से। उसके उपादान में नग्नता चाहे हो, आत्मा में सत्य और सुन्दरता है।

दो और भी चित्र हैं। एक 'प्रोवेन्स देश का गुलाब', दूसरा मैक्स क्लिगर (१८५७–१९२०) का 'नील घटा'। पहले में कुछ भी नहीं है—एक अतीव

---

* द्रष्टव्य—बंगला 'काव्यालोक'।

सुन्दर रूप-विधान, सुन्दरी का चित्र। उसमें कोई नैतिक आदर्श, कोई शिक्षा नहीं—फिर भी वह हमें अपने सौंदर्य से मोह लेता है। 'नील घंटा' में तीन भिन्न-भिन्न दृष्टियों की सुन्दरता आँकी गयी है। तीन सुन्दरी—एक की दृष्टि आकाश, एक की धरती और एक की सामने की ओर निबद्ध। बस। इसके अतिरिक्त चित्र में कहीं कोई सुनीति, कहीं कोई आदर्श नहीं। बल्कि दुर्नीति की बू तो शायद है, क्योंकि तीनों सुन्दरियाँ पूर्ण नंगी ही बैठी हैं। फिर भी कला के क्षेत्र में उसका बड़ा आदर है। लिहाजा कला के क्षेत्र में अच्छा-बुरा तो किसी हद तक कहा जा सकता है, सुनीति और दुर्नीतिमूलक की चर्चा बेकार-सी है।

इसी प्रसंग में साहित्य का भी उल्लेख किया जा सकता है। रामायण को लोक-मंगल की भूमि पर प्रतिष्ठित करके उसके आदर्श और नीति-परायणता की प्रशंसा भूरि-भूरि की जा सकती है, की भी जाती है। किन्तु यह सोच देखना है कि उसकी इतनी लोकप्रियता, इतना स्थायित्व क्या उसमें वर्णित भ्रातृ-स्नेह, पितृभक्ति, पातिव्रत और प्रजावत्सलता जैसे आदर्शों के लिये ही है? नीति और ज्ञान की बातों का एक सहज धर्म है कि वह पुरानी पड़ जाती है—दूसरी बार उसके सुनने में कोई आकर्षण नहीं रहता। भाव की बातें ही नित्य नयी आनन्ददायिनी हो सकती हैं। दांते की आलोचना करते हुए कवि शेली ने यही कहा था—कविता मानो एक निर्झरिणी है, उससे सदा से प्रज्ञा और आनन्द का पानी उच्छलित होता रहता है; एक व्यक्ति, एक युग उसके विशेष सम्बन्ध के दिव्य प्रभाव को सम्पूर्णतया चुका कर ग्रहण भी कर ले, तो बाद में, फिर उसके बाद में जो युग आता है, उससे उसका नया सम्बन्ध स्थापित होता है—वह एक अभूतपूर्व और अदृष्टपूर्व आनन्द-उत्स है।* शेक्सपियर के लिये ठीक यही बात कार्लाइल ने कही है—मनुष्य की सुदूर भावी पीढ़ी भी शेक्सपियर से नये अर्थ की उद्भावना करेगा, अपनी मनुष्य-सत्ता की उज्ज्वल व्याख्या ढूँढ़ निकालेगा।

रामायण की भी उस आनन्ददायिनी भाव-मंदाकिनी, सौंदर्य-निर्झरिणी को ही वास्तव में मानना पड़ता है। फिर भी हम उसे उपदेशजीवी ही कहें तो 'महाभारत' को क्या कहेंगे? महाभारत में द्रौपदी के पाँच पति, पांडु-पुत्रों की जन्म-कथा, जुआ और नर-संहार जैसी दुर्नीतिमूलक बातें ही आदि से अन्त तक भरी हुई हैं। तब से आज तक मानव-समाज उसमें कौन-सा अमृत पाता चला आ रहा है? कालिदास के 'मेघदूत' और 'ऋतुसंहार' में कौन-सा आदर्श,

* साहित्यायन में युग और युग-युग का शीर्षक लेख।

कौन सी नैतिकता भरी पड़ी है? टाल्सटाय और रूसो जैसे नीति-समर्थक कलम के धनियों की 'अन्ना केरेनिना' तथा 'ला नूवेल एलोइज' में नीतिमत्ता के क्या क्या ज्वलंत उदाहरण हैं? इन लोगों की बात छोड़ भी दी जाय, बाल्मीकि, व्यास और होमर की चर्चा भी बाद रहे, किन्तु फ्रांसीसी कवि विलन्, आस्कर वाइल्ड, वेर्लेन आदि की कृतियों को क्या कहा जाय? कला के प्रत्येक क्षेत्र से ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं—मूर्ति और वास्तु, यहाँ तक कि संगीत में भी इसका अभाव नहीं होगा।* ऐसी स्थिति में शिलर की तरह जो सौंदर्य-साधना को संस्कृति-विरोधी मानते हैं, उन्हें उन्हीं की तरह विचार करना चाहिये कि समाज में सौंदर्यानुशीलन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करना चाहिये या नहीं। प्लेटो तो कवि और कविता को कल्पित राज्य से निर्वासित ही करना चाहते थे। प्युरिटनों ने काव्य और संगीत को विषवत् परित्याज्य माना था। यहूदिया ने प्रत्येक तरह की प्रतिमूर्ति को निषिद्ध माना था। कुरान में भी प्रतिमा-विधान को शैतान का काम और इसलिये निषिद्ध माना गया।

कला सृष्टि से हमें स्वभावतया ही इस निष्कर्ष पर आना पड़ता है कि रसज्ञता और सदाचार दोनों भिन्न भिन्न वस्तुएँ हैं—दोनों युगपत् भाव से स्वतः किसी कलाकृति में आ जायँ, यह और बात है। दोनों में किन्तु कोई ऐसा सूत्र नहीं है, जिसे हम अगागी या अविच्छेद्य सम्बन्ध कहें। कला में दुर्नीति के लक्षण बहुत कम ही प्रस्फुटित होते हैं, जिसे हम दुर्नीति दोष मानते हैं, वास्तव में वह है ग्राम्य दोष। यह दोष नीति के बजाय रुचि से सम्बन्ध रखता है। महत् काव्य का गुण उसकी शालीनता, हेय रचना का दोष उसका ग्राम्यभाव या रुचिहीनता है। जो कवि कलाकार जीवन में बहुत दुर्नीति-परायण थे, उनकी भी रचनाओं में हमें आनन्द का अमृत सचित मिलता है। सुनते हैं, आस्करवाइल्ड बड़े वैसे थे, शरच्चंद्र हर प्रकार की नशीली वस्तु का सेवन करते थे, और अमुक वैसे थे, फलां ऐसे। किन्तु उनकी भी रचनाओं में काव्य और कला का आनन्द है। है इसलिये कि अपनी रचनाओं में उन्होंने महत् हृदय की शालीनता को कहीं कुंठित नहीं किया। इसके विपरीत जहाँ

* पुरी के जगन्नाथ मंदिर में जो चित्र हैं यों उनमें शायद वासना की बू आये किंतु अपनी पुस्तक 'शिल्पकथा' में अवनींद्रनाथ ने उन चित्रों की शालीनता का समर्थन किया है। इसी प्रसंग में चिदम्बरम् के मन्दिर के आसन चित्रों का उल्लेख किया जा सकता है।

यह शालीनता क्षुण्ण हुई है, वहीं काव्य और कला का सौंदर्य मलिन हो गया है, आनन्द कुंठित हो आया है। लूकस ने एजरा पाउंड की रचनाओं में निरर्थक शब्दजाल को ग्राम्यदोष कहा है। बंगला के एक विद्वान् ने रविवर्मा की चित्रकला को इस दोष से दूषित माना है।† उनकी राय में रविवर्मा के चित्रों के उपादान यद्यपि देवी-देवता और धर्म-भाव हैं, पर उन्होंने उन्हें प्राकृतजन की आँखों से देखा है। 'गंगावतरण' चित्र का हवाला देते हुए वे कहते हैं—'गंगावतरण' चित्र की याद कीजिये। उसमें महादेव कैसे दीखते हैं? किसी पहलवान-से—समझिये गामा या किंकर सिंह—जटा बाँधे, बाघंबर पहने पाँव फैलाये ऊपर की ओर मुँह किये खड़े हैं। और गंगा? आलुलायितकुंतला कोई सिनेमा-सितारा हों जैसे, अभी-अभी हवाईजहाज से उतरी हैं या ग्लाइड करके आयी हैं।

सुनीति और उपयोगिता की खोज से कला में यों तो वादों के अनेक विवाद खड़े हुए, किन्तु उनमें से जो दो बहुत प्रबल हैं—आदर्श और यथार्थ-वाद की संक्षिप्त चर्चा आवश्यक है। एक रचना में उपयोगिता या आदर्श का पोषक है, दूसरा यथायथ चित्रण का हिमायती। हमारी समझ में उच्चकोटि के साहित्य में इन दोनों लक्षणों से प्रबल रोमांटिसिज्म का लक्षण होता है। यह भी कहें तो अनुपयुक्त न होगा कि श्रेष्ठ साहित्य-सृष्टि में आदर्श या यथार्थ नहीं होता—रोमांस अवश्य होता है। 'साहित्य दर्पण' में 'लोकोत्तर चमत्कारः' की चर्चा आयी है। विश्वनाथ ने इस 'चमत्कार' को चित्त विस्तृति रूप विस्मय कहा है। धर्मदत्त ने इस चमत्कार को या विस्मय को रसों का सार कहा है।

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।

इस चमत्कार का जनक अद्भुत रस है और अद्भुत रस ही अन्य सभी रसों का मूल प्रतिष्ठाता है। जगत् और जीवन के अपार रहस्य से कलाकार का हृदय विस्मय-विमुग्ध होता है—उसी प्रकार साहित्य की आनंदानुभूति भी पाठक-चित्त में समान रूप से एक परम विस्मय की सृष्टि करती है। प्रत्येक प्रकार की कला-रचना के मूल में इस चित्तप्रसारकारी चमत्कार या विस्मय का हाथ रहता है। फलस्वरूप वस्तुनिष्ठा पर कल्पना का आधिपत्य होना नितांत प्रयोजनीय हो जाता है। अवश्य कल्पना से हमारा आशय निरवलंब अतिचारी कल्पना नहीं, वह कल्पना, जो विशृंखल को युक्त, असंलग्न को सुसम्बद्ध, जड़ को चिन्मय और खंड को पूर्ण करती है। अनुकरणवादी अरस्तू तक ने परोक्ष रूप से इस शक्ति को बार-बार माना है। चित्र के बारे में एक जगह वे कहते

† बंगला 'शिल्पकथा'—नलिनीकांत गुप्त

हैं, चित्रकार मूल के विशिष्ट रूप को अंकित कर ऐसा सादृश्य लाते हैं, जो जीवन के लिये सत्य अथच पहले से अधिकतर मनोहर होता है। इस कल्पना को हमने कवि की आत्मीयता कहा है। एडिसन ने कवि की उस शक्ति को जिसके द्वारा आँख कान आदि से गृहीत वस्तुओं को एक नये रूप में उपस्थित करने की विशेषता कवियों में आती है—'फेकल्टी ऑफ दि इमेजिनेशन' की आख्या दी है। यह मानव-मन की एक विशेष प्रक्रिया है। कोलरिज ने इस 'इमेजिनेशन' को प्राइमरी और सेकंडरी दो हिस्सों में बाँटा है। उनकी राय में मौलिक कल्पनाशक्ति जो है, वही मनुष्य के सभी प्रत्यक्षज्ञान की सजीव शक्ति और प्रमुख कार्यकरी है। 'मैं हूँ' इस वृत्ति में जो शाश्वत सृष्टिकर्म है, शांत चित्त में यह उसकी पुनरुक्ति-सी है।

रचना में इस आत्मभाव के आरोपन से ही सृष्टि सम्भव होती है और वैसी दशा में रचना की वस्तुनिष्ठता, उसका यथायथ रूप किसी भी प्रकार से अक्षुण्ण नहीं रह सकता। उस पर कलाकार का मानसिक रंग चढ़ जाता है। रूपायन के मूलतया दो अंग होते हैं—एक रूपविधायक और दूसरा व्यक्तित्व विधायक। कॅट ने इसीलिये कल्पनावृत्ति के दो हिस्से बताये हैं—स्वच्छंद कल्पना (फैन्सी) और ऐच्छिक कल्पना (इमेजिनेशन)। कला-सृजन के लिये फैंसी ही मुख्य है, पर स्वेच्छाकृत संकल्प (इमेजिनेशन) का नियंत्रण रूपचयन के लिये अनिवार्य है। बुद्धि और अंतर्दृष्टि—दोनों दो बातें हैं। हमारे अंतर्जगत् की पूर्णता केवल ज्ञान से नहीं है, इच्छा भी उसका एक अपरिहार्य अंग है। इसी इच्छा की बदौलत हमारी स्वतंत्रता, निजी सत्ता व्यक्त होती है। हेगेल ने, कला में जो प्रकाश है, उसे जीवनोद्भूत कहा है, कलाकार के आत्म चैतन्य से जीवित। जापानी शिल्पालोचक ओकाकुरा ने कला के लिये तीन विषय मुख्य माने हैं—स्वभाव, परंपरा और स्वकीयता यानी निजत्वारोप की मौलिकता। कुंतक ने काव्य उसी को कहा है जिसमें कवि प्रतिभा दृष्टवस्तु को अपने निजत्व से बदल कर ह्लादकारक बना देती है। कालिदास ने शकुंतला की जो छवि दी है, उसमें उनके प्राण का स्पष्ट स्पंदन है। इसीलिये सृष्टि में वह सौंदर्य सम्भव नहीं, वह कवि चित्त का ही निजत्व है—

> चित्ते निवेश्य परिकल्पितसत्वयोगात्
> रूपोच्चयेनमनसा विधिना कृतानु।
> स्त्री' रत्नसृष्टिरपरा प्रतिभान्ति या मे
> धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः।

आदर्श में ठीक इसके विपरीत कहने की बात जो यथार्थ के उपादानों के आधार

से ही कहना संभव होता है। इसलिये वाद के हिसाब से दोनों के बदन पर दाग आ जाते हैं, दोनों की पूर्णरूपता पर आँच आती है। आदर्श यथार्थ के माथे पर मुकुट-सा शोभित हो जाता है और यथार्थ की वास्तवसामग्री पर कल्पना की कारीगरी हो जाती है।

गोर्की ने साहित्य की मूलधारा दो मानी हैं--रोमांटिसिज्म और रियलिज्म। अर्थात् भावानुभावमयता और वस्तु तांत्रिकता। वस्तुतांत्रिकता को उन्होंने साहित्य का वह रूप बताया है, जिसमें बिना किसी मिलावट के मनुष्य और उसके सामाजिक आवेष्टन को उपस्थित किया जाता है। रोमांटिसिज्म की सर्वाङ्गपूर्ण आख्या की कमी महसूस करते हुए उन्होंने उसके दो भाग किये हैं—दुर्बल रोमांटिसिज्म और बलिष्ठ रोमांटिसिज्म। पहले दर्जे के रोमांटिक कठोर यथार्थ पर रंग चढ़ाकर उसे सहज और शोभन बनाने की चेष्टा करते हैं —दूसरे मानव के जीने की इच्छा को प्रबलतर बनाने का प्रयास—वे वास्तव के सभी अत्याचारों के विरुद्ध मनुष्य को विद्रोही बनाना चाहते हैं। इस विभाजन के बाद भी वे इस निर्णय पर नहीं पहुँच पाये कि बालजक, तुर्गनेव, शेकव, लेसकव को रियलिस्ट कहा जाय या रोमांटिक। उन्होंने अन्त में यह कहा कि बड़े-बड़े साहित्यकारों में रियल और रोमांस का सम्मिश्रण होता है। स्वयं अपने में उन्होंने दोनों वादों का प्रभाव स्वीकार किया। जब वे दुखी और अभावग्रस्त थे, तब उन्होंने 'लीजेंड ऑफ दि बर्निङ्ग हर्ट' 'स्टार्मी पेट्रेट' जैसी पुस्तकें लिखीं और जब उन्हें अनुभव की बड़ी पूंजी हुई, तो उन्होने 'छब्बीस आदमी और एक लड़की' जैसी पुस्तक लिखी। उन्हीं के शब्दों में, एक में कल्पना की खाद मिलायी हुई है, दूसरे में वास्तव चरित्र हैं।

गोर्की के समान क्रोचे भी श्रेष्ठ कवि में रोमांटिक और क्लासिक दोनों का समन्वय मानते हैं। इलियट ने किंतु इन दोनों वादों को साहित्यिक राजनीति कहा है—क्लासिक ऐंड रोमांटिक--ए पेयर ऑव टर्म्स बिलोंगिंग टु लिटररी पौलिटिक्स। कुमार स्वामी ने कला में यथार्थ के मानी पूर्ण प्रकाश कहा है, जिससे कलाकृति में किसी अभाव का बोध न हो।

वादों के इस विवाद में वास्तव में कोई बहुत बड़ा तथ्य नहीं है। निखालिस यथार्थ या विशुद्ध आदर्शवादी साहित्य हमारी समझ में कुछ नहीं हो सकता। यथार्थाभिमुखी या आदर्शोन्मुख साहित्य कहना तो फिर भी किसी हद तक युक्तियुक्त हो सकता है। अपने तईं ये वाद कोई वस्तु नहीं, भावतंत्र, वस्तुतंत्र, वस्तुविशेष का अपना कोई धर्म नहीं यह तो कवि की उस विशेष चित्तावस्था, जिसे हम विस्मयबोध कह आये हैं, पर निर्भर

करता है कि कौन सी वस्तु किस साँचे में, किस रूप में ढल कर सामने आयगी। रचनाओं का यह वैविध्य, यह वैचित्र्य कवि प्रतिभा से उद्भूत होता है।

कला के और भी अनेक प्रयोजन आज गढ़े गये हैं। उनमें से मुख्य हैं—कला के लिये कला, जीवन के लिये कला, आत्मानुभूति के लिये कला, सृजनवृत्ति की परितृप्ति के लिये कला आदि-इत्यादि।

इनमें से कला के लिये कला की चर्चा बड़ी गरम है। आचार्य शुक्ल कहते हैं, योरप में जिस प्रवाद का इधर सबसे अधिक फैशन रहा है वह है—काव्य का उद्देश्य काव्य ही है या कला का उद्देश्य कला ही है। इस प्रवाद के कारण जीवन और जगत् की बहुत-सी बातें, जिनका किसी काव्य के मूल्य निर्णय में बहुत दिनों से योग चला आ रहा था, यह कहकर टाली जाने लगीं कि ये तो इतर वस्तुयें हैं—शुद्ध कला क्षेत्र के बाहर की व्यवस्थायें हैं। पाश्चात्य देशों में इस प्रवाद की योजना करने वाले कई सामान खड़े हुए थे। कुछ तो इसमें जर्मन सौंदर्य शास्त्रियों की यह उद्भावना सहायक हुई कि सौंदर्य संबंधी अनुभव एक भिन्न ही प्रकार का अनुभव है जिसका और प्रकार के अनुभवों से कोई संबंध ही नहीं। इससे बहुतेरे साहित्यशास्त्री यह समझने लगे कि कला का मूल्य निर्द्धारण भी उसके मूल्य को और सब मूल्यों से एक-दम विच्छिन्न करके ही होना चाहिये। ईसा की १६ वीं शताब्दी के मध्यभाग में ह्विसलर ने यह मत प्रवर्तित किया, जिसका चलन अब तक किसी न किसी रूप में चला आ रहा है।*

एक बँगला लेख से हम यह ज्ञात हुआ है कि इस प्रवाद के जन्मदाता तो विक्तर यूगो थे क्योंकि उन्होंने यह बात महज मजाक के तौर पर कही थी, मत प्रवर्त्तन के लिये नहीं और वही एक ऐसा प्रचलित साहित्यिक सिद्धांत बन गयी। एक बार यूगो अपने कुछ कवि और आलोचक मित्रों के साथ वाल्ते-यर के नाटकों की चर्चा कर रहे थे। ट्रेजिडी के सिलसिले में उन्होंने यह कहा कि ये तो वास्तव में नाटक नहीं हैं। इनमें सूखे और थोथे उपदेश भरे होते हैं, जीवन्त जीवन का दर्शन नहीं होता। इससे तो कला के लिये [illegible]ला कहीं अच्छा है।

[illegible]भी हो, इस मत की वेदी पर फूल-फल चढ़ा कर उन्नीसवीं सदी के [illegible] में ह्विसलर, स्विनबर्न, आस्करवाइल्ड आदि ने इसे परिपुष्ट

[illegible]। का इतिहास।

[illegible]

किया। इसके प्रचलन की तब एक पृष्ठभूमि साहित्यिक जगत् मे तैयार हो गयी थी। वह थी साहित्य में सुनीति के जोरदार पोषण की प्रतिक्रिया। साहित्य में सुनीति के समर्थकों की एक परम्परा थी—प्लेटो अरस्तू से लेकर मेथ्यू आर्नल्ड तक ने साहित्य में सौंदर्य और मंगल की प्रतिष्ठा की भरपूर वकालत की। प्लेटो ने नैतिक दृष्टि के नाते काव्य-संगीत की उपेक्षा की, टाल्सटाय ने बीथेवोन, वेगनर, शीमैन जैसे नाट्य संगीतकारों की कला को निकृष्टतम कहा। यहां तक कि शेक्सपियर के अधिकांश नाटक टाल्सटाय की नजर में अधम और कुत्सित प्रतिपन्न हुए। फ्रांस में इस वातावरण के विरोधी तत्वों का प्रकाश जोला, गोतिये, गोकुर आदि की रचनाओं में होने लगा था। इस नये पंथ के पीछे तत्वबोध के नाम पर जिस साहित्यिक उच्छृंखलता का प्रसार हुआ, उसे उसी देश में कभी 'कामायन' कहा गया। सच पूछिये, तो आदर्श और यथार्थ पंथी द्वन्द्व के बीच ही इसकी प्रतिष्ठा हुई जिसकी चर्चा हम कर आये हैं। किंतु इसके सबसे बड़े पोषक ब्रैडले ने इसकी जो व्याख्या, जो स्वरूप निर्देश किया है, कविता के उस रससर्वस्वस्वरूप के प्रति बहुत बड़ा आक्षेप और विरोध नहीं रह जाता।

ब्रैडले ने इसके आक्षेपों की एक बहुत अच्छी सफाई दी है। वे कहते हैं, 'कला के लिये कला' वाले सूत्र के जो हानिकर प्रभाव प्रायः देखे जाते हैं, वे वास्तव में इस मतवाद से सम्बन्धित नहीं हैं, सम्बन्धित हैं उस मतवाद से, जिसमें कला को ही जीवन का पूर्ण और परम उद्देश्य माना गया है।

शिलर को काव्य-साहित्य के सौंदर्यानुशीलन के प्रति घोर वितृष्णा हुई थी। इसलिये हुई थी कि कला-साधना से नागरिक धर्म और राष्ट्रीय स्वाधीनता के कार्य में कोई सहायता मिलते उन्हें नहीं दीखा। उन्होंने यह देखा कि सौंदर्य पूजा से वीरधर्म का नाश होता है; जब कलायें अपने विकास के चरम पर पहुॅच जाती हैं, तो मानवता क्षतिग्रस्त होती है। यह वास्तव में कला का दोष नहीं, उसके प्रति किसी का ऐकांतिक अनुराग है; कला का आत्यंतिक मूल्य आँकना है। जीवन-निर्माण, हृदय का संस्कार—ये ऐसे कार्य हैं, जिनके लिये अनेक क्षेत्र की अनेक चेष्टायें तत्पर हैं। बहुत कहा जाय, तो यह कहा जा सकता है कि कला-साधना भी वैसी चेष्टाओं में एक है। इस एक चेष्टा से मनुष्य-समाज का सर्वापेक्षा महत् उद्देश्य सम्पन्न हो ही जायगा, यही सोचना भूल है। कला ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य भी तो नहीं—और-और उद्देश्यों जैसा यह भी एक अन्यतम है। वह जब आनन्द की प्रशस्तभूमि पर किसी को पहुँचा सके, तो समझना चाहिये वह कार्यकरी हो गयी। आनन्द की उस वेदी

पर सत्य और मंगल स्वयं प्रतिष्ठित हो जाते हैं। कला के लिये कला के मानी दुर्नीति-मूलकता या अशिव का प्रचार भी तो नहीं है। वह आप अपने जैसी है, अपने आप में पूर्ण है, साध्य और सिद्धि है, उसके अतिरिक्त अन्य किसी रूप में उसे जाना-पहचाना नहीं जा सकता—रससर्वस्वता के ये सब भी अर्थ हैं। यानी कला सौंदर्य सृष्टि के अतिरिक्त अन्य किसी वाह्यार्थ को कबूल नहीं करती। फिर भी इसका अर्थ जीवन से विश्लिष्ट करके उसे देखना नहीं होता। जीवन के अन्य अनेक प्रयोजन हैं, उन सभी प्रयोजनों को साध्य साधन की एक ही शृंखला में क्रमबद्ध नहीं रक्खा जा सकता। भूख और धर्म की चाहना भिन्न-भिन्न है—दोनों में साध्य-साधन भाव का मेल नहीं। भूख रोटी से मिटती है—धर्म की चाहना रोटी से नहीं मिट सकती। जीवन के संरक्षण-वर्द्धन में स्थूल जैव प्रयोजन काम आते हैं। आनंद भी हमारा एक प्रयोजन है, वह सौंदर्य-सृष्टि से ही पूरा होता है। जैसे जीवसत्ता के पाँच कोष की प्रयोजनीयता हम कह आये हैं, कुणाल जातक में वैसे ही—काम लोक, रूपलोक और अरूपलोक की चर्चा आयी है—जो हमें आसक्ति की अंधता से आनंद के लोक का संकेत देती है।

सृजनवृत्ति की पूर्ति के लिये कला, जीवन के लिये कला, आत्मानुभूति के लिये कला, इन पर हम प्रसंगवश विचार करते आये हैं, एक ही बात का पिष्टपेषण न तो आवश्यक है, न उचित ही। विनोद के लिये कला, सेवा के लिये कला, ये बातें भी प्रसंगवश आलोचित हो चुकी हैं और उनका स्वतंत्र कोई मूल्य भी नहीं, एक ही बात की दूसरे रूप में अवतारणा भर है। किसी ने, 'कला जीवन की वास्तविकता से छूटने के लिये' ऐसा भी कहा है और इस पलायनवादी मनोवृत्ति की जितनी हो सकती है, निंदा की गयी है। कविता का उलटा पक्ष जैसे विज्ञान है, उसी तरह इसका अन्तर्भाव भी 'जीवन के लिये कला' में हो जाता है। आज साहित्य के मैदान में जो 'प्रगतिवाद' की तलवार लिये लड़ते हैं, उनके हाथों इसी 'पलायनवाद' की ढाल रहती है। 'कला के लिये कला' की आलोचना करते हुए ही चेष्टरटन ने एक बात कही है, कला के लिये कला बेशक अच्छा सिद्धान्त है बशर्ते कि यह माना जाय कि जमीन और गाछ में एक विशिष्ट भेद है, पर गाछ की जड़ें जमीन में हैं। लेकिन तब यह बहुत ही खराब सिद्धान्त है, जब यह माना जाय कि आकाश में ही अपनी जड़ें फैला कर भी पेड़ विकसित होता है। अवश्य चेष्टरटन ने जमीन कह कर नैतिक भूमि का ही संकेत दिया है। हम उस जमीन को जीवन और जगत् भी कहें, तो बात एक ही होती है। जीवन

की वास्तविकता से भागने की बाबत भी यही बात कही जा सकती है।

विचारों की दुनिया का पल्ला छोड़ कर कार्य की दुनिया में हम देखें तो क्या पाते हैं। क्या कार्यतः वही होता है? कला आसमान में जड़ें बिखेर कर जमीन में शाखायें नहीं फैलाती, फल-फूल नहीं उगाती, किन्तु जमीन पर खड़े होकर भी उसके फूल-फल ऊँचे आकाश में लगते हैं, यह तो हम कही सकते हैं। उसके इस आकाशदीप दिखाने का महत्व तो है ही, कारण भी है। इसे आप लोक से लोकोत्तर की यात्रा शायद न मानें, वस्तु पर आंतरिक माया का एक चमत्कार तो कहेंगे। हम उसे प्रतिभा, प्रज्ञा, कल्पना कहते हैं। वास्तव-वादी काडवेल ने साहित्य में वास्तव सृष्टि का भी एक मात्र आधार इसी माया शक्ति को माना है! वे कहते हैं, केवल मात्र इसी माया-सृष्टि की सहायता से ही ऐसी एक वास्तव-सृष्टि मुमकिन है, जो अन्य उपायों से कदापि संभव नहीं हो सकती।※ जार्ज टामसन ने असम्भव को पाने की इस कविवृत्ति को गेटे के युफेरियन जैसा कहा है। किन्तु उस प्रेरणा को उन्होंने धन्यवाद दिया है, क्योंकि उसी से निरवलम्ब कल्पना ठोस वास्तव में बदल जाती है। शिल्पी अपने समधर्मी को कल्पना के जगत् में ले जाते हैं, जहाँ उन्हें मुक्ति मिलती है, वे मानवी बुद्धि के आवेष्टन को स्वीकार नहीं करते।†

इस 'मुक्ति' को जीवन की वास्तविकता से भागना कहा जा सकता है, पर यही वास्तविक जीवन में प्रवेश है। इसके लिये प्रतिभा की अर्थक्रियाकारिता को समझना चाहिये। साहित्य में जो जगत् के उपादान आते हैं, उनका वस्तु रूप वही नहीं रह जाता, जो वस्तु जगत् में होता है। यह माया-शक्ति, प्रतिभा उसे अपनी प्रक्रिया से उसी सत्य के रूप में नहीं रहने देती, फिर भी उसमें एक अनिर्वचनीय सत्य सन्निवेशित हो जाता है, वर्णित विषय के सुख-दुख से हम हँसते-रोते हैं। यहाँ उन वस्तुओं से हमारे हृदय का योग और भी गहरा होता है, जितना कि वास्तव जगत् से नहीं होता है। यद्यपि वे वस्तु जगत् के सत्य नहीं होते, फिर भी उनकी प्रतीति सत्य रूप में ही होती है—जैसे रस्सी का सर्पत्व सत्य हो उठता है, उससे हमें भय होता है, भागकर बचने की क्रियाशीलता भी आती है।

वाह्य जगत् की विस्मयमुग्धता (वांडर स्पिरिट) से कवि के अन्तर्प्रदेश में एक विशिष्ट वासनालोक गढ़ उठता है—उसी वासनालोक से साहित्य की

※ इल्युज़न ऐण्ड रियलिटी।

† मार्क्सिज़्म ऐण्ड पोइट्री।

सृष्टि होती है और उसी वासनालोक में साहित्य का स्वाद भी ग्रहण किया जाता है। इस प्रक्रिया में तीन उपादानों का सहयोग होता है—बाहरी दुनिया, कवि का अन्तर्मन और पाठक चित्त। इसलिये कला-रचना को समान रूप से देही और विदेही, लौकिक और लोकोत्तर कहा जा सकता है। जहाँ उसका सम्बन्ध बाह्यजगत् से है, वह शरीरी है, जहाँ अन्तर्लोक से है, वहाँ वह अशरीरी है। अपनी इसी विशिष्टता से साहित्य दृश्य अदृश्य, प्रत्यक्ष गोचर का सेतु है। इसी सगम पर हमारे चित्त को मुक्ति मिलती है। इस मुक्ति की खासियत और आकर्षण यही है कि हम जगत् में ही होते हैं, जीवन की समस्त वास्तविकताओं के साथ होते हैं और बधन-मुक्ति का आनन्द पाते हैं। इसमें सीमा का बन्धन नहीं होता, सीमा होती है। इस सीमा का अतिक्रम कर हमें असीम की यात्रा नहीं करनी पड़ती, इस सीमा में ही असीम आ टिकता है। साहित्य में इस स्थिति को साधारणीकरण कहते हैं। अपने बधनों के बीच ही हमें विश्व-जीवन के व्यापक आकाश में खो लेने का आनन्द मिलता है, हमारा म अपनी सकीर्ण परिधि से बहु के विस्तार में मिल कर आत्मतृप्ति पाता है। वह जीवन से पलायन नहीं, मन की बधन मुक्ति है। इस प्रकार हम 'मैं' से विराट् विश्व में फैलते हैं और फिर विराट् विश्व से अपने में आते हैं। जिसके जीवन की दीनता दुर्दशा की कहानी साहित्य में स्थान पाती है, वही दीन-दुर्दशाग्रस्त उस कहानी को चाव से पढ़ता है। अपना जीवन चाहे उसे जितना भी असह्य, तीखा और भारस्वरूप क्यों न हो, अपने साहित्य-स्वरूप में वह उसे रोचक ही लगता है। इसलिये जीवन से साहित्य और साहित्य से जीवन में जाने-आने का एक क्रम है। जो जीवन से ही भागते हैं, वही जीवन से भागते हैं। ऐसी दशा में उनकी ओर कोई दया होनी चाहिये, साहित्य पर विधि निषेध का जाल बिछाना इसको लेकर बेकार है।

रूस से मार्क्सवादी दर्शन की जो हवा आयी है, उससे उड़कर कला सबधी जो जड़वादी बोलियाँ आयी हैं, हमारे यहाँ भी लोग जबर्दस्त जोर से उन्हें दुहराने लगे हैं। उस मत के अनुसार प्रत्येक शिल्पी को जड़वादी होना चाहिये, क्योंकि जड़वाद की पद्धति ही कला पद्धति है। कला वर्ग युद्ध का हथियार है। कला रसात्मक व्यापार नहीं, नीति, धर्म, राजनीति विषयक प्रचार से विजड़ित है।

ऐसी और भी बहुत-सी बातें हैं। एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है, मतवाद चाहे जितने भी हों, किन्हीं में कला स्वरूप की समग्रदृष्टि नहीं। कला उनके मत विचार के समीप भी हो, तो उसकी सम्पूर्णता मात्र वही नहीं होती—

कहाँ से आता है, कहाँ से नि सृत होता है यह हृदयविदारी रोदन? मैंने जो कभी नहीं सोचा, वही बात आती है, जिस दर्द का कभी अनुभव नहीं किया, वही दर्द जगता है। पता नहीं, मैं यहाँ किसकी बात किसे सुनाने आया हूँ।

इस जिज्ञासा में एक स्पष्ट सत्य का सकेत है कि वास्तव में पहली बात है रचना। रचना के अनन्तर जिज्ञासा, विश्लेषण, मत और पथ का विवेचन। काव्यशास्त्र की रचना तो दर्शन-व्याकरण के भी मूलग्रंथों के बाद हुई है। कुछ ऐतिहासिकों ने उसका जन्म ईसा की पहली पाँच शताब्दियों में माना है। जहाँ तक आकृतिगत रूप-रचना का सवाल है, भाषागत लावण्य योजना का प्रश्न है, कला शास्त्रों का अनुशासन किसी हद तक मानती है, किन्तु जब आत्मा के वैभव की बात आती है, तो वह अपने निजस्व प्राण-धर्म से ही परिचालित होती है। ऐसी स्थिति में बहुत बार वह नयी चेतना से ही उद्दीप्त नहीं होती, नयी रूप-रचना, नयी पद्धति की भी निर्मातृ हो जाती है। कला के क्षेत्र में इसे हम नवीन युग की अवतारणा, युगांतर कहते हैं। ऐसा युगारम्भ कला के प्राणधर्म के ही कारण होता है। रोम में अगष्टस का युग, इटली में दसवें लेओ का युग, फ्रांस में चौदहवें लुई का युग, इङ्गलैण्ड में एलिजाबेथ का युग बहुत कुछ कला के इस प्राण-धर्म का द्योतक है। कला में जब जब ऐसा नया ज्वार आता है, नवीन चेतना की सूचना मिलती है, हम पाते हैं कि वह अदम्य प्रेरणा जीवन के अनन्त प्रवाह का ही दान है।

ऐसे युगांतर की पृष्ठभूमि में प्रमुखतया दो ही बातें होती हैं—एक तो जीवन का अनन्त प्रवाह और दूसरी कवि का विशिष्ट व्यक्तित्व। अनन्त जीवन प्रवाह से उस अपराजेय अनन्त विश्व-धारा को समझना चाहिये, जिसके प्रबल आवर्त्तों में आज तक जीवन अपनी पूर्णता की यात्रा में निरंतर गतिशील है और बनता-सँवरता है। मनुष्य अवश्य चेतनशील प्राणी है, उसका जीवन निर्माण वनस्पति और जीव-जंतु के समान केवल उस काल प्रवाह पर ही सर्वथा निर्भर नहीं करता, उसका निजस्व भी कुछ होता है। मनुष्य में दोनों की क्रियाशीलता का एक समन्वय है। उसके जीवन का कुछ तो उसका स्वरचित होता है, कुछ इस अनन्त जीवन धारा का दिया हुआ। इसीसे जीवन पर जाति, धर्म और राष्ट्र का तो बहुत कुछ ऋण होता ही है, प्रत्युत प्रकृति—यह धरती आकाश, नदी-पहाड़, वन मैदान, जलवायु का ऐश्वर्य कुछ कम नहीं होता। इन सब के समुचित अंश से जो जीवन मतवाद बना है, भूत-भविष्यत् की प्रतीति एवं आकांक्षित संभावना के बीचोबीच उनके मत-चित काल प्रवाह के साथ-साथ चलकर वर्तमान की देहलीज पर आकर

खड़ा हुआ है, जिसका बायाँ चरण आज और दायाँ कल की ओर बढ़ने को उद्यत है—इसी को हम जीवन का अनन्त प्रवाह कहेंगे। कला-क्षेत्र में नवयुग के अभ्युदय में इस जीवन-प्रवाह का बहुत बड़ा हाथ रहता है किन्तु वह कला का कभी एकमात्र नियामक हर्गिज नहीं होता। कलाकार का विशिष्ट व्यक्तित्व भी अनिवार्य होता है और उसकी अपनी महत्ता अस्वीकार नहीं की जा सकती।

वर्गयुद्ध में कला को एक आवश्यक अस्त्र मानने वाले लोग यह मानते हैं कि हमारी यह जो व्यक्ति-सत्ता है, वह बृहत्तर समाज-सत्ता के ही अंगीभूत है। यह बृहत्तर समाज-सत्ता ही अनन्त-जीवन-प्रवाह से आवर्त्तित होकर व्यक्ति-सत्ता के माध्यम से प्रकट होती है। सामूहिक चेतना (कलेक्टिव कन्शस्नेस्) और सहज सहानुभव (पैसिव् सिम्पैथी) की दृष्टि से विचार किया जाय, तो आदि कवि से व्यक्ति विशेष के मन का परिचय नहीं मिलता, समष्टिगत-चेतना ही आदि कवि ठहरती है। प्रथम कविता का जन्म सामूहिक चेतना को प्रत्यक्ष करने के ही प्रयोजन से, सामाजिक जीवन के भौतिक प्रयोजनों से ही हुआ होगा। सामाजिक सुख-दुख का प्रकाश सामाजिक अनुष्ठानों में ही होता आया है और वह अभिव्यक्ति धीरे-धीरे नियत और नियंत्रित होकर कला के विभिन्न रूपों में पल्लवित हुई है। शायद हो कि ऐसा ही हुआ हो, किन्तु ऐसा होते हुए भी कला के क्षेत्र में व्यक्ति-चेतना को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। समूह किसी हदतक व्यक्ति का निर्माता हो सकता है, उसका स्रष्टा नहीं। केवल कला ही के क्षेत्र में क्यों, इतिहास, धर्म, समाज संस्कार के क्षेत्र में भी व्यक्ति-चेतना का दान बहुत बड़ा है। ऐतिहासिक घटनाओं का लिपिकार है। उससे अपेक्षा की जाती है कि वह घटी हुई घटनाओं का आक्षरिक प्रतिरूप तैयार करके समाज को दे किन्तु ऐसा नहीं होता। घटनाओं के निर्वाचन में इतिहासकार का अपना भाव-स्वभाव भी अवश्य मिल जाता है।

धर्म-पथ के संबन्ध में बुद्ध और ईसा के नाम लिये जा सकते हैं। वेद-धर्म की प्रबलता के प्रताप के आगे जिस विद्रोही वीर्य ने सगर्व सर उठाया, उसे हम बुद्धदेव का व्यक्तित्व ही कहेंगे। अवश्य उसमें जीवन-प्रवाह ने भी अपना हिस्सा बटाया। वैदिक कर्मकांडों के प्रति एक विद्रोह-भावना बहुत पहले से ही लोगों में घर करती आ रही थी, जिसका एक रूप हम उपनिषदों के ब्रह्मवाद में पाते हैं—लेकिन उस विद्रोह ने वास्तविक रूप ग्रहण बुद्धदेव के व्यक्तित्व से ही किया। ठीक यही बात ईसा के लिये भी कही जा सकती

खड़ा हुआ है, जिसका बायाँ चरण आज और दायाँ कल की ओर बढ़ने को उद्यत है—इसी को हम जीवन का अनन्त प्रवाह कहेंगे। कला-क्षेत्र में नवयुग के अभ्युदय में इस जीवन-प्रवाह का बहुत बड़ा हाथ रहता है किन्तु वह कला का कभी एकमात्र नियामक हर्गिज नहीं होता। कलाकार का विशिष्ट व्यक्तित्व भी अनिवार्य होता है और उसकी अपनी महत्ता अस्वीकार नहीं की जा सकती।

वर्गयुद्ध में कला को एक आवश्यक अस्त्र मानने वाले लोग यह मानते हैं कि हमारी यह जो व्यक्ति-सत्ता है, वह बृहत्तर समाज-सत्ता के ही अंगीभूत है। यह बृहत्तर समाज-सत्ता ही अनन्त-जीवन-प्रवाह से आवर्त्तित होकर व्यक्ति-सत्ता के माध्यम से प्रकट होती है। सामूहिक चेतना (कलेक्टिव कन्शस्-नेस्) और सहज सहानुभव (पैसिव् सिम्पैथी) की दृष्टि से विचार किया जाय, तो आदि कवि से व्यक्ति विशेष के मन का परिचय नहीं मिलता, समष्टिगत-चेतना ही आदि कवि ठहरती है। प्रथम कविता का जन्म सामूहिक चेतना को प्रत्यक्ष करने के ही प्रयोजन से, सामाजिक जीवन के भौतिक प्रयोजनों से ही हुआ होगा। सामाजिक सुख-दुख का प्रकाश सामाजिक अनुष्ठानों में ही होता आया है और वह अभिव्यक्ति धीरे-धीरे नियत और नियंत्रित होकर कला के विभिन्न रूपों में पल्लवित हुई है। शायद हो कि ऐसा ही हुआ हो, किन्तु ऐसा होते हुए भी कला के क्षेत्र में व्यक्ति-चेतना को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। समूह किसी हदतक व्यक्ति का निर्माता हो सकता है, उसका स्रष्टा नहीं। केवल कला ही के क्षेत्र में क्यों, इतिहास, धर्म, समाज संस्कार के क्षेत्र में भी व्यक्ति-चेतना का दान बहुत बड़ा है। ऐतिहासिक घटनाओं का लिपिकार है। उससे अपेक्षा की जाती है कि वह घटी हुई घटनाओं का आक्षरिक प्रतिरूप तैयार करके समाज को दे किन्तु ऐसा नहीं होता। घटनाओ के निर्वाचन में इतिहासकार का अपना भाव-स्वभाव भी अवश्य मिल जाता है।

धर्म-पथ के संबन्ध में बुद्ध और ईसा के नाम लिये जा सकते हैं। वेद-धर्म की प्रबलता के प्रताप के आगे जिस विद्रोही वीर्य ने सगर्व सर उठाया, उसे हम बुद्धदेव का व्यक्तित्व ही कहेंगे। अवश्य उसमें जीवन-प्रवाह ने भी अपना हिस्सा बटाया। वैदिक कर्मकांडों के प्रति एक विद्रोह-भावना बहुत पहले से ही लोगों में घर करती आ रही थी, जिसका एक रूप हम उपनिषदों के ब्रह्मवाद में पाते हैं—लेकिन उस विद्रोह ने वास्तविक रूप ग्रहण बुद्धदेव के व्यक्तित्व से ही किया। ठीक यही बात ईसा के लिये भी कही जा सकती

है, दोनों को जीवन प्रवाह की सहायता जरूर मिली पर यह नहीं कहा जा सकता कि व्यक्तित्व के प्रकाश की महिमा क्षुण्ण हुई। समय वैसी पृष्ठभूमि तैयार कर ले, जीवन वैसी भूमिका बना भी रक्खे फिर भी जबतक ऐसा एक व्यक्तित्व, ऐसी एक सपन्न प्रतिभा नहीं आती है तो विद्रोह का वह मौन आवेदन घुट घुट कर ही खत्म हो जाता है। सामूहिक चेतना को उस एकक प्रकाश, उस अभिनव प्रतिभा की राह देखनी पड़ती है। इसीलिए वाल्मीकि और होमर, व्यास और कालिदास, सूर और तुलसी, रवींद्र और शेक्सपियर रोज नहीं आते। धर्म की बाबत भी यही बात है। यों 'बुक ऑफ दि आवर' की रचना तो प्रतिदिन होती रहती है, रामायण जैसी रस मदाकिनी रोज नहीं बहती।

होमर की काव्य-रचना का आधार चारण-गीति है, जिसे मोलपे कहा जाता था और जिसका अर्थ है नृत्य-गीत। अन्य देशों के महाकाव्यों की रचना में भी लोक मुख प्रचलित भाव प्रकाशों का आधार रहा है। ऐसे जो भाव-खड जन-समुदाय में किसी अवधि तक मडलाते रहे हैं, वही समय पर सूत्रबद्ध होकर काव्य रूप में प्रवर्त्तित होते गये हैं। पंचतत्र, इलियड ओडेसी, रामायण-महाभारत, किंग आर्थर की कहानी, स्कैंडिनेविया का सागा कुछ इसी तरह बना है। रवींद्रनाथ ने उस अविच्छिन्न ऐतिहासिक धारा एव कवि प्रतिभा के समन्वय को इस रूप में बताया है कि बहुत से मुखों में जो गान प्रचलित होते हैं, वे एक काव्य में बॅध जाते हैं, फिर वह काव्य बहुत समय तक सर्व-साधारण के निकट गाया जाता है, और फिर उसपर बहुत सी दिशाओं से बहुत-से समय का हाथ पड़ता है। वह काव्य देश की समस्त दिशाओं से अपनी पुष्टि के रस को स्वय खींच लेता है। इस प्रकार धीरे-धीरे वह समस्त देश की वस्तु बन जाता है। उसमें समस्त देश के अत करण का इतिहास, तत्वज्ञान, धर्मबोध, कर्मनीति स्वय मिल जाती है। जो कवि प्रारंभ में इसकी नींव डालता है, उसकी आश्चर्यमयी क्षमता के आधार पर ही यह सभावित होता है। वह ऐसे स्थान पर इस तरह उसकी नींव डालता है और उसका प्लैन इतना प्रशस्त होता है कि वह बहुत समय तक समस्त देश को अपने कार्य में लगा सकता है।†

कला क्या है, कला के लिए कौन-सा पथ गतव्य है, उसे ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं—ऐसे स्मार्त नियमानुशासन का ढेर चाहे जितना बड़ा

† साहित्य

लगा लिया जाय, कला को उसी की सीमा में बाँध कर न तो रक्खा जा सकता है, न किसी एक निश्चित लीक पर उसे चलाना ही संभव है। उसके स्वरूप और लक्ष्य के कुछ सूत्र बना कर जो यह सोचते हैं कि चिरंतनकाल तक कला उसी नियम पर रची जायगी और उसी का अनुसरण करती रहेगी, वे व्यर्थ प्रयास ही नहीं, दुस्साहस करते हैं। ऐसी सारी मान्यतायें, ऐसी सारी परिभाषायें ऐसे सभी कला-विषयक मतवाद अपूर्ण, एकांगी और अधूरे हैं। इससे कोई यह न समझें कि हम उस स्वाभाविक जिज्ञासा-वृत्ति को भी कला-क्षेत्र से निर्वासित करने के हिमायती हैं, जो विचार-विश्लेषण द्वारा लोगों में कला की खास-खास विशिष्टता को समझने की सहज दृष्टि देकर उनके कलानंद को और भी गहरा और प्रीतिप्रद बनाती है। कला के आनंद का एक सहज संस्कार होता है, एक रसज्ञता होती है, यह सत्य है, परन्तु कलालोचना, यदि वह पूर्वग्रह या मत विशेष की अंधानुगामिनी न हो तो एक दृष्टि देती है, जिज्ञासुओं को बोध का एक दर्पण देती है—यह भी सत्य है। मान लीजिये कोई किसी चित्रशाला में अवनींद्र, नंदलाल बोस या देवी प्रसाद राय चौधुरी के खास चित्र देखते हैं। चित्र-दर्शन से उन्हें आनंद तो आता है, किंतु वह आनंद तब और भी बढ़ जाता है, जब इन चित्रों की विशिष्टताओं से भी वे परिचित हो जाते हैं। काव्य और संगीत में भी वही बात है—उसकी विशिष्टता, उपमा-रूपक के कुशल प्रयोग, शब्द-शक्ति, छंद-लय की सूक्ष्मता आदि का भी बोध हो जाने से आनंद और भी व्यापक हो उठता है। वाल्ट व्हिट्मैन ने तत्वविज्ञान से खिड़की पर की प्रातः सुषमा को अधिक महत्वपूर्ण कहा है; बट्लर ने मामूली कविता की किसी पंक्ति को संतवाणी से भी मूल्यवान माना है। वह ठीक है, लेकिन कला-विचार भी आवश्यक है। हाँ, कला मतवाद की कभी आज्ञानुवर्त्तिनी नहीं होती, न उसी कसौटी पर उसके समग्र रूप को देखा जा सकता है।

कला की कोई परिभाषा पूरी नहीं उतरी, कोई मतवाद उसका पूर्ण और अन्तिम नहीं है, इसका यही कारण है कि हम उसके प्राण-धर्म को ठीक-ठीक हृदयंगम नहीं कर सकते। मनस्वी बेकन ने 'आइडोला' की चर्चा की है। उनकी राय है, वास्तविक सत्य तक पहुँचना मनुष्य के लिये बड़ा कठिन है, क्योंकि सत्य की मूर्त्ति को घेरकर चारों ओर से असत्य-विग्रहों की भीड़ लगी है। वे माया-विग्रह मूल सत्य को ढंक कर सत्य रूप में अपनी ही प्रतीति कराने में निरंतर प्रयत्नशील हैं। काव्य-सत्य (कला भी कह लें) पर भी ऐसे माया-विग्रहों का घना आवरण है। आगमों ने चेतन के जैसे पाँच कंचुक माने हैं,

बेकन ने काव्य के वैसे ही चार आवरण माने हैं—तत्व, आदर्श, फेशन और वाक्सर्वस्वता।

बेकन कवित्व और तत्व को दो भिन्न वस्तु मानते हैं। काव्य का पहला जो आवरण है वह तथ्य या तात्विक सत्य का है। स्थूल भौतिक तथ्य हो, चाहे आध्यात्मिक—तथ्य तथ्य ही है। इसकी व्याख्या में यह कहा जा सकता है कि मूलत 'ब्रह्मसत्य है, जगत् मिथ्या' इस तथ्य से 'बिल्ली दूध पीती है' वाला भौतिक तथ्य भिन्न नहीं है। ऐसे तत्व या तथ्यों को उसी रूप म लाना उस सिद्धात का ही प्रतिपादन है, जिसमें कला को अनुकरण कहा गया है। स्थूल हो या सूक्ष्म, भौतिक हो या आध्यात्मिक, तथ्य जब दर्पण प्रतिबिंबवत् उपस्थित किया जाता है, तो कला अपनी मर्यादा से नीचे उतर आती है।

आदर्श सन्निवेश काव्य का दूसरा माया विग्रह है। आदर्श में हम धर्म समाज, राष्ट्र, देश के प्रति जिस प्रीतिबोध को गिनते हैं, उसमें मनुष्य की हार्दिकता होती है और इसलिये वह बेशक मूल्यवान है। किन्तु उस प्रीतिबोध की उत्तेजना से जब कला को धर्म के लिये उच्छ्वसित अनुराग, देश के लिये सेवा-भावना, मानव-प्रेम, समाज सस्कार, नीति शिक्षा के उग्र प्रचार का साधन बनाया जाता है, तो उसका लाख गुण-गान करने पर भी कला के यथार्थ स्वरूप की रक्षा नहीं हो सकती। इन गुणों के होते हुए कोई कला-रचना महत् हो ही नहीं सकती, ऐसा तो हम नहीं कहेंगे। इतना कहेंगे कि वह महत्ता उसकी कृत्रिम प्रयोजना में नहीं है, स्वाभाविक तौर से आने पर ही आती है और आती भी है, तो वह कला का अन्तरग नहीं, बहिरग गुण ही मानी जायगी।

तीसरा आवरण है फैशन। फैशन को बेकन ने बाजारू-विग्रह' (आइडोल ऑफ दि मार्केट प्लेस) कहा है। यह फैशन और कुछ नहीं, पुरानी बोतल में नयी शराब भी नहीं, पुरानी बोतल में पुरानी ही शराब—केवल नाम का फर्क। यों समझें कि कभी बुद्धिवाद के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई, उसने जन्म दिया रोमांटिकवाद को, आज उसी रोमांटिकवाद के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया है, उसकी तह में वेश बदल कर फिर वही बुद्धिवाद बैठा है। नायिका अब भी है, पर अब वह कोई शहरी षोड़शी नहीं है, सथाली युवती या कोई सर्वहारा श्रेणी की तरुणी हो गयी है। पहले प्रेम, रूप, शोभा की ज्यादा चर्चा आती थी, उसकी जगह अब भूख, दुर्गन्धि, और यत्रदानव की बात बार-बार दुहरायी जाती है।

काव्य का चौथा आवरण उन्होंने वाक्सर्वस्वता को माना है, वाक्सर्वस्वता अर्थात् शब्दस्तूप, वाग्जाल। वाक्सर्वस्वता कविता का धर्म नहीं है, इसकी

व्याख्या की अपेक्षा नहीं।

कविता का स्वरूप या प्रकृत कवित्व और ही कुछ है। उस कुछ को सूत्र में नहीं बाँधा जा सकता, व्याख्या से नहीं बताया जा सकता। उसके लिये तो एक ही उपाय है, कविता की शरण में जाना, उसके प्राणधर्म को पहचानना। इतना तो हम भी मानेंगे कि प्राण पर बुद्धि का अनुशासन रहता है। किसी हद तक वह अपेक्षित भी है। वह अनुशासन, वह नियंत्रण इतना प्रबल नहीं होता कि बुद्धि जिधर चाहे प्राण-प्रवाह को मोड़ दे या नयी सृष्टि कर दे। रचना की दिशा में विज्ञान और अन्य क्षेत्रों से काव्यक्षेत्र में एक खास बात है। विज्ञान में जो बहुत बड़ा तत्वविज्ञानी, विश्लेषक और तथ्यों का आविष्कारक होता है, वह विज्ञान को अपनी नयी सृष्टि भी दे सकता है। कला का तात्विक और विवेचक भी उसी तरह कवि या कलाकार भी होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसलिये काव्य-सृजन की इस वृत्ति को बुद्धिवृत्ति से सम्पूर्णतया पृथक् माना गया है, गो कि बुद्धि भी हमारे अन्तःकरण का एक अंग है। अन्तःकरण के अंग चार हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। एक दूसरे से हैं तो ये सब मिले-जुले, किन्तु इनके धर्म अलग-अलग हैं। हमारे सभी संकल्प-विकल्प का माध्यम मन माना जाता है और उस मन की इस क्षमता का प्रकाश कई अवस्थाओं के एकीकरण से स्पष्ट होता है। ज्ञान की जो पाँच अवस्थायें मानी गयी हैं—परिज्ञान, स्मरण, कल्पना, विचार तथा सहज-ज्ञान—उनमें से यह कल्पना अद्भुत सृजनशक्ति है। यही कवि-मानस की अपनी विशेषता है, इस मानसर को सब नमस्य मानते हैं कि इसमें चौदहों भुवन हंसों की तरह तैरते रहते हैं—

कवीनां मानसं नौमि तरन्ति प्रतिभाम्भसि।
यत्र हंस वयांसिव भुवनानि चतुर्दश॥

वह अप्रत्यक्ष की ऐसी साक्षात् स्वप्नभूमि है, जिसमें वह अलौकिक प्रकाश बसता है, जो जल-थल में कहीं नहीं—

दि लाइट व्हिच नेवर वाज़ ऑन लैंड ऑर सी।
दि कन्सिक्रेशन ऐंड दि पोएट्स ड्रीम।

यह व्यक्ति-चेतना काव्य-कला से निर्वासित नहीं की जा सकती, यदि वैसा सम्भव हो तो जीवन से कला का ही निर्वासन समझना चाहिये। समष्टिवाद के समर्थक व्यक्ति-सत्ता को मानने से इनकार करते हैं। प्लेटो और हेगेल समष्टिवाद के समर्थक रहे हैं। कई समाजशास्त्रियों ने समाज का एक अलग व्यक्तित्व माना है और उस व्यक्तित्व को मानव के व्यक्तित्व से कहीं अधिक

ऊँचा प्रमाणित करना चाहा है। मैकडोनल्ड ने सृष्टि के लक्ष्य-साधन की गति में व्यक्ति को उस दैवी घटना का उपकरण मात्र स्वीकार किया है। बहुतों ने एक ऐसे भावी समाज की कल्पना की है, जिसमें व्यक्ति सत्ता की बू-बास भी नहीं रह जायगी। उस आदर्श समाज में व्यक्ति के विचार, वेदना, आकांक्षा सब सामुदायिक होंगी। मार्क्स और ऐंगेल्स ने सामूहिक विकास के लिये व्यक्ति के स्वच्छन्द विकास को सोपान माना है। कैंट ने तो प्रत्येक मनुष्य को उद्देश्य-स्वरूप कह कर उसके महत्व को सबसे अधिक स्वीकार किया है। अपने व्यक्तिवाद में उसने मनुष्य के गौरव और व्यक्तित्व के विकास को सर्वोत्तम नियम माना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यष्टि और समष्टि म मूलत कोई नैसर्गिक विरोध नहीं है। कला की दुनिया में जो वैयक्तिक चेतना है, वह प्राय नैर्व्यक्तिक ही होती है। उसकी इस नैर्व्यक्तिकता की प्रणाली एक जुदा ढग की है कि उसके 'मैं' में सभी 'मैं' ध्वनित है—वहाँ सर्वमानव चित्त एकमुखी होकर एक ही व्यक्तिसत्ता को विराट् में बदल देता है। अर्थात् कवि का चित्त सब का चित्त बन जाता है, व्यक्ति ही विराट् हो जाता है। परन्तु इस व्यक्तित्व को मनोविज्ञान सम्मत 'मलटिपुल पर्सनैलिटी' नहीं समझना चाहिये। कवि का चित्त वास्तव में वैसा बहुत्वसम्पन्न नहीं होता। उसमें बहुमुखिता के लक्षण अवश्य हैं, फिर भी वह चित्त बहुतों का न होकर, एक का है। उस चित्त को हम बहुल न कह कर विराट् कह सकते हैं, उसका गुण संख्याधिक्य नहीं, व्यापकत्व है। अपनी प्रसारशीलता और प्राजलता से ही वह सर्वजनीन है। कला की इस व्यापकता में व्यक्ति और समष्टि, दोनों की चेतना समुद्भासित होती है—इनमें विरोध नहीं होता। इस आत्म का अर्थ निज नहीं, अन्त.पुरुष समझना चाहिये।

सौंदर्य

चीनियों में कला-पूजा की प्रबल प्रवृत्ति देख दुःख करते हुए एक बार कन्फुशियस ने कहा था—मुझे आज तक ऐसा कोई भी न मिला जो धर्म को भी उतना ही चाहता हो जितना कि वह सौंदर्य को चाहता है। कन्फुशियस की इस बात में दो तथ्यों का संकेत है—एक तो यह कि कला सौंदर्य-साधना है और दूसरा कि सौंदर्य में एक अजेय आकर्षण-शक्ति है, उसकी ओर मन की एक सहज रुझान है। वास्तव में सौंदर्य-प्रियता मनुष्य का एक सहजात गुण है। मानव-विकास के इतिहास की जो सामग्रियाँ समय ने पृथ्वी की परतों में छिपा कर रख दी हैं, उनसे इस सत्य के ठोस प्रमाण मिलते हैं कि आदिम लोगों में भी स्वाभाविक सौंदर्य-प्रीति थी और अलंकरण-वृत्ति का परिचय उन्होंने अपनी उस आदिम-कला-साधना में भी दिया है। फ्रांस की नदियों की गहरी तराइयों में बहुत-से चित्र पाये गये हैं। इन चित्रों में प्रधानता तो आखेट-चित्र की ही है, परन्तु मैमथ के दाँत और पत्थरों पर स्त्रियों के भी चित्र खुदे पाये गये हैं, जिनमें उनके अंग-विवरण की भावना ही प्रकट हो पायी है। पुरातात्विकों ने उन चित्रों को प्राचीन पाषाण-युग के पूर्वार्ध का बताया है और बताया है कि ये चित्र ग्रैवेटियन और मैगडालेनियन लोगों के बनाये हैं। चूंकि तब मनुष्य का मन विकास की आदिम अवस्था में था, इसलिये उनमें पुष्ट विचारों एवं अभिव्यक्ति की प्रांजलता की सम्भावना भी न थी। फिर भी अनुकरण और सादृश्य-विधान की मूल प्रवृत्तियों के अतिरिक्त उन्होंने अलंकरण-वृत्ति द्वारा सौंदर्य-बोध का परिचय दिया है। उसी आस-पास के अन्य उपादान जो प्राप्त हुए हैं, विशेषतया आत्म-रक्षा और शिकार के आधार शस्त्र—उनमें भी उपयोगिता की रचना सौंदर्य-भावना की छाप से वंचित नहीं रह पायी है। बहुत-बहुत पुराने समय में धर्म-भावना जरूर बहुत प्रबल थी, किन्तु सौंदर्य-वृद्धि की भावना ने उस पर भी आत्म-प्रकाश किया था।

कला की प्रेरणा सौंदर्य है और कला सौंदर्य की ही प्रतिष्ठा करती है। अनेक मनीषियों ने चिंतन-मनन के सार स्वरूप इन्हीं दो तथ्यों का निष्कर्ष निकाला है कि सौंदर्य की प्रेरणा ही कला-रचना का मूल है और सुन्दर की

प्रतिष्ठा ही कला का आदर्श। शैली ने एक जगह लिखा है, जगत् ने सौंदर्य पर एक जो आवरण पड़ा है, कला उसे उठा देती है। इसलिए कला में महज रूपासक्ति नहीं होती, रुझान और रम जाने योग्य प्रेम भी होता है। धर्म ने कला को बहुत बार बेतरह अनुप्राणित किया है। कई लोग तो धर्म को ही कला-सृष्टि का श्रेय देते हैं। लेकिन इतिहास इस बात की भी गवाही देता है कि अनेक बार अपने प्रसार और प्रतिष्ठा के लिये कला की इस अजेय शक्ति का सहारा धर्म को लेना पड़ा है। बौद्ध-धर्म सारे एशिया में प्रतिष्ठित हुआ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसकी अपनी प्राण शक्ति की महिमा भी थी, पर उसके फलने-फूलने में कला की सहयोगिता का भी बहुत बड़ा हाथ रहा है। इस धर्म के जो सन्देशवाही दूत चीन और कोरिया गये थे, वे दिव्यवाणी की पवित्र पोथियाँ ही साथ नहीं ले गये थे, उनके साथ बुद्ध की कलामयी मूर्त्तियाँ और चित्र भी थे और धर्म विजय के उस अभियान की सफलता का श्रेय बहुत अंशों में उनका भी था।† धर्म प्रतिष्ठा में कला की सहायता का सब से बड़ा और सफल प्रमाण तो खीष्टधर्म से मिलता है। सेमेटिक तथा ग्रीक-रोमन भाव के विरोध में ही इस धर्म ने आत्म प्रकाश किया। सेमेटिज्म मूर्त्तिवाद का घनघोर विरोधी था और ग्रीक-रोमन भाव था उसका कट्टर हिमायती। प्रतीक और रूपकों की भरमार से धर्म बड़ी ही सँकरी परिधि में सिमट गया था। धर्म की वह संकीर्णता आखिर पैगान भाव के विजयी होने से दूर हुई। बाइबिल तथा ईसा के जीवन की घटनाओं पर अनेकानेक कलापूर्ण मूर्त्तियों और चित्रों की रचना हुई। और, कला की उस अनुप्रेरणा से न केवल खीष्टधर्म सफल ही हुआ, बल्कि उसपर से हिब्रू धर्म का प्रभाव जाता रहा।* हमारे यहाँ वैष्णव कवियों की रूपोपासना, मधुर रस साधना ने धर्म को किस रूप में प्रभावित किया इसके उल्लेख की आवश्यकता नहीं, इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उस शक्ति एव प्रभाव के मूल में सौंदर्य प्राणता ही रही है।

भारतीय सौंदर्य साधना की परपरा तो बड़ी पुरानी है, किंतु उसके मुकाबले

---

† देखिये मेरी पुस्तक 'साहित्यिका' में 'धर्म और कला' शीर्षक लेख।

* बट प्लैस्टिक आर्ट विद फार्म्स दि ट्रू ऐण्ड एसेन्शियल सेपरेशन बिटविन दि हिब्रू रिलीजन ऐण्ड दि क्रिश्चियन रिलीजन ऐट इट्स फर्स्ट आरिजिन हैज नॉट बीन मोर इनटु फोर्स्ड ऐज ऐन आरगुमेंट टु गिव वेट् टु द एविडेंस ऑव दि इनफ्लुएन्सेज ऑव ग्रीको-रोमन सिविलाइजेशन।

सौंदर्य-चर्चा की परिपाटी बहुत हाल की है। पाश्चात्य देशों में प्लेटो-अरस्तू से क्रोचे तक, विभिन्न मनीषियों ने सौंदर्य के स्वरूप, धर्म और मान पर विचार करते हुए विचारों की एक लंबी कड़ी तैयार की। हमारे यहाँ मूलतया साहित्य का सर्वस्व रस ही माना जाता रहा है। यह पार्थक्य सांस्कृतिक चेतना-भेद से ही है। हमारी सांस्कृतिक चेतना सदा अंतर्मुखी रही जबकि पाश्चात्यों की बहिर्मुखी। हमारे यहाँ की अंतर्गामी चेतना ने रस-विवेचन किया, पाश्चात्यों की वहिर्गामी अंतश्चेतना ने की सौंदर्य की प्रतिष्ठा। यही कारण था कि कला शब्द का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से करते हुए भी यहाँ काव्य का विचार कला के अन्तर्गत नहीं किया गया। अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीय संहिता, महाभारत, भागवत, कथासरित्सागर, हितोपदेश आदि में कला शब्द अर्थभेद से यत्र तत्र प्रयुक्त होता रहा है। साहित्य के क्षेत्र में भी कला की चर्चा यदा कदा आयी है, किंतु विज्ञान या शास्त्रपक्ष में वैदग्ध्य, निपुणता या कौशल के रूप में ही कला को मुख्यतया गिना गया, इसपर हम विस्तार से पिछले प्रकरण में विचार कर चुके हैं। आज कलालोचन में सौंदर्य को रस वाली महत्ता ही दी जाने लगी है, इसके कारण और औचित्य पर हम आगे विचार करेंगे, यहाँ मात्र यह कहना है कि यह पाश्चात्य सिद्धान्त के समावेश का फल है।

कई लोग ऐसा सोचते हैं कि 'सत्य, शिव, सुन्दर', जो आज साहित्य के आदर्श वाक्य स्वरूप सर्वत्र प्रयुक्त हो रहा है, वह भारतीय है। वास्तव में बात ऐसी नहीं है। अपने प्राचीन ग्रंथों में सुन्दर की धारणा मिलती है, उसके स्वरूप-विचार या धर्म-निर्णय की शास्त्रीय चेष्टा नहीं पायी जाती। वेद-उपनिषद से लेकर अनेक प्राचीन ग्रंथों में सत्य की, शिव की, सुन्दर की चर्चा आयी है, सुन्दर के अनेक पर्यायवाची—रुचिर, चारु आदि—शब्द भी आये हैं, कन्तु सबके समन्वय से जिस आदर्श वाक्य का व्यवहार आज हो रहा है, यह कहीं नहीं पाया जाता। ऋग्वेद में नित्य की संध्योपासना में सत्य का उल्लेख आया है, अन्यत्र भी और सत्य से यथार्थ, अन्वर्थ, अविनश्वर आदि आशय लिया गया है। शिव का भी प्रयोग ऋग्वेद में है, जिसका अर्थ लिया गया है, शोभन। अतः निर्णय करने की चेष्टा न होते हुए भी ऋग्वेद में सुन्दर और शिव का स्वतः समन्वय है। इसी तरह उपनिषदों में सुन्दर और सत्य एकाकार है और इतने अच्छे रूप में कि अन्यत्र वैसे विचार दुर्लभ हैं। जहाँ तक इन शब्दों के व्यवहार का प्रश्न है, उपनिषदों में सर्वत्र सत्य, शिव, सुन्दर का प्रयोग है। यथा—सत्यमेव जयते नानृतम्

(मुडक) श्रयेन शान्ता शिवमाचरन्ति (महानारायणोपनिषद्) आदि। उपनिषद का सुन्दर रूप की ही सुन्दरता नहीं है, वह सौंदर्य के उस गोपन अ त पुरुष का संकेत देता है, जो कि सौंदर्य का आदि और चरम परिणति है। वह है अरूप का सौंदर्य। विभिन्न रूपों के वैचित्र्य में वह अपरूप ही प्रतिष्ठित है। उपनिषदों ने इस सुन्दर का स्वरूप भी बताया है, धर्म का भी संकेत दिया है। रूप उपनिषदों की दृष्टि म 'रवितुल्य रूप' अथवा 'विरज शुभ्र ज्योतिषा ज्योति'—है। संक्षेप म उपनिषद का सुन्दर प्रकाश है। किंतु केवल रूप भी क्या, उसके अत शरीर की प्रतिष्ठा यदि उसमें न हुई। अत उपनिषद ने स्वरूप को धर्म की महिमा से मंडित करने के लिये प्रकाश का धर्म बताया आनद। आनन्द रूपममृत यद्विभाति। प्रकाश रूपायन है, आनन्द उसका प्राण, गतिधर्म या जीवन। इसलिये उपनिषद के अनुसार सुन्दर के मानी हैं—आनन्द के छन्दों मे खेलती हुई ज्योति। इस प्रकार उपनिषद का सुन्दर रूप और रस, प्रकाश और आनन्द से एकाकार है। इसी को कहीं-कहीं उपनिषद में सौर तथा चाद्र रूप कहा गया है। सौर का आशय है प्रकाश यानी रूप, चाद का सोम, अमृत या आनद कहे। रूप और आनद, यही सुन्दर का स्वरूप और धर्म है। आज कला का लक्ष्य यही कहा जाता है कि रूपायन हो और उसमें आत्मिक चेतना की प्रतिष्ठा हो। कीट्स ने सत्य सुन्दर को एक कहा है। सौंदर्य की व्याख्या म हेगेल ने कहा है—किसी विशेष रूपापन्न चिद्‌भिव्यक्ति को ही सौंदर्य कहते हैं। चिद्‌भिव्यक्ति जब अपने आतर स्वरूप के अनुरूप बनाकर बाहरी वस्तु का ग्रहण करती है, तभी उसे सुन्दर कहते हैं। बर्क ने भी लगभग यही बात कही है, अन्तर के आनद की उद्दीप्ति से अपनी कल्पना के सहारे मनुष्य भौतिक उपादानों से उस आनद के अनुरूप जो रचना करता है, वही सौंदर्य सृष्टि है।

सुन्दर और शिव या सुन्दर और सत्य की यह एकाकारता वेद-उपनिषद में स्वयमेव प्रकट हुई है, किसी सिद्धात स्थापना की दृष्टि से नहीं, न ही आज का यह आदर्श वाक्य उसपर से बना है। यहाँ श्रेय प्रेम के उस विवाद की कोई महत्ता ही तब नहीं रही। गीता में वाणी के तप का उल्लेख आया है—'वाक्य सत्य प्रियहित'। कई लोग इसे ही सत्य शिव सुन्दरम् का अनुप्रेरक कहते हैं और कहते हैं यह उसी का ठेठ भारतीय रूप है।* किंतु यह सत्य है कि समन्वय की ऐसी कोई चेष्टा यहाँ नहीं हुई। सैद्धातिक तौर पर यहाँ

* 'सिद्धान्त और अध्ययन'।

साहित्यशास्त्र में भी सदाचार और नीति की जहाँ चर्चा आयी है, वहाँ रस की अनुरणता के लिये औचित्य के विचार से ही आयी है। अन्यथा यहाँ सुन्दर और शिव अभेद रहे हैं। यूनानी दार्शनिकों ने सदाचार और नीति को समाविष्ट करने के लिये ही पहले पहल सत्य, शिव और सुन्दर के समन्वय पर विचार किया। अफलातून ने सुख के बीच एक रेखा खींच कर शुद्ध और अशुद्ध—दो सुखों की कल्पना की और यह बताया कि शुद्ध सुख रूपात्मक सौंदर्य से, जिसका कि प्रकृत प्रयोजनों से संबंध नहीं रहता, उत्पन्न होता है। प्लेटो ने सत्य, शिव, सुन्दर को एक करने की चेष्टा की। उनकी मान्यता थी कि सौंदर्यमात्र मनुष्य के मन का संस्कारक होता है। उससे मनुष्य के मन की दशा उस उन्नतावस्था तक पहुँच जाती है कि बाकी संसार से उसका संबंध शांति और मैत्री का हो उठता है और आदमी तत्वदर्शी हो जाता है। इस प्रकार प्लेटो के हिसाब से सौंदर्य सत्य और मंगल का प्रतिष्ठापक है। अरस्तू ने सत्य, शिव, सुन्दर को अविच्छेद्य माना। उसने सौंदर्य में उपदेश या शिक्षादान को भी प्रयोजन रूप में स्वीकार किया। अब तो हमारे यहाँ भी लोग तरह-तरह से तीनों की अभिन्नता प्रतिपादित करते हैं। रवींद्रनाथ ने साहित्य की देवी सरस्वती को केवल श्री ही नहीं, मूर्तिमती सत्य और कल्याणमयी भी कहा है। सत्य, शिव, सुन्दर क्यों और कैसे एक हैं, यहाँ यह दिखाना हमारा अभीष्ट नहीं।* हिंदी में यह कैसे, कहाँ से, कब आया, यह अनुसंधान की अपेक्षा रखता है। छान-बीन से इतना तो जाना जा सका है कि भारत में सर्वप्रथम इसका प्रयोग बँगला में महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने किया और अनुमानतः या तो यह अफलातूँ के 'दि ट्रू दि गुड दि व्युटिफुल' का अनुकरण है, या विक्टर कजिन्स की पुस्तक 'दि ट्रुथ दि गुड ऐण्ड दि व्युटिफुल' का अनुवाद।

भारतीय साहित्य-शास्त्र मे आज के आशय में प्रयुक्त सौंदर्य का पहला आभास हमे 'वक्रोक्ति जीवित' कार कुंतक में मिलता है, बाद में सत्रहवीं सदी के 'रसगंगाधर' प्रणेता पण्डितराज जगन्नाथ में उसकी स्पष्ट-सी धारणा मिलती है। दोनों ने सौंदर्य को एक विशेष चित्तभाव माना है। भामह ने शब्द और अर्थ के साहित्य को काव्य कहा है। कुंतक ने भी वाचक और वाच्य, वाक्य और अर्थ की समग्रता को ही काव्य माना, किंतु आनंद देने वाली दोनों की स्वतंत्र सत्ता को भी स्वीकार किया। वाक्य और अर्थ की जिस समग्रता को कुंतक ने काव्य माना, उसे हम 'युनिटी ऑव एक्सप्रेशन ऐण्ड लैंग्वेज' कह

---

* देखिये मेरी पुस्तक 'साहित्यायन' का 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' शीर्षक लेख।

तो सकते हैं, पर इसका आशय वह नहीं है जो कि अंग्रेजी एक्सप्रेशनिज्म का होता है। एक्सप्रेशनिज्म के अनुसार इ ट्युशन और एक्सप्रेशन अभिन्न है—कोई भी अर्थ अपने अनुरूप शब्दों में ही प्रकाशित होता है। कुतक को दोनों का ऐक्य तो कबूल है पर दोनों की अपनी-अपनी विशेषता के स्वतंत्र विकास से ही काव्य को वे सम्पन्न मानते हैं। अर्थ का चमत्कार हो और भाषा-सौष्ठव न हो, भाषा विन्यास हो और अर्थ सौंदर्य न हो तो काव्य नहीं होता। शब्द-विन्यास के महत्व को भी वे मानते हैं। कहते हैं, कोई अर्थ न भी समझे तो साधु काव्य के केवल वाक्य विन्यास में ही एक ऐसा सौंदर्य, ऐसी महिमा है कि उसे पढ़ते ही वह संगीत के उच्छ्वास जैसा हृदय को आनंद से भर देता है।* इस सौंदर्य के कुंतक ने दो धर्म माने हैं—अंतरंग और वहिरंग। अंतरंग धर्म का नाम उन्होंने दिया है सौभाग्य और वहिरंग का लावण्य। प्रतिभाजात जो आत्मचेतना का ह्लादजनक चमत्कार रचना में सन्निवेशित होता है, उसे अंतरङ्ग धर्म या सौभाग्य और रूप-रचना में जो सौंदर्य जन्म लेता है, उसे लावण्य की आख्या दी है।

वर्जिल में म्युज (सरस्वती) ने कहा है, ग्रामीण यदि मेरे मर्म को न भी समझ सकें तो भी वे मेरे सौंदर्य की पूर्णता की ओर अवश्य अग्रसर होंगे। यदि तुम मुझसे ज्ञान न भी पा सको, तो कमसे कम मुझसे तुम्हें सुख मिलेगा। कुंतक ने वर्ण विन्यास और शब्द-संगठन की स्वतंत्र सत्ता के अनुसार काव्य संपद में अंतर पड़ने की स्वीकृति दी है और कहा है, केवल शब्द-सौंदर्य में भी एक आनंद है, किंतु उसके अर्थबोध में पानक रस जैसी एक ऐसी आस्वादन निर्झरिणी है, जो देह में प्राण के समान समग्र काव्य देह को उज्जीवित किये देती है।†

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी काव्य की इन दो विशेषताओं की अलग अलग सत्ता मानी है कि रस निविड़ न होने पर भी रचना में सौंदर्य होता है, और चूंकि उसमें सौंदर्य होता है, इसलिये आनन्द भी मिलता है। इसी को उन्होंने रमणीयता कहा है। भारतीय साहित्य-शास्त्रियों में पण्डितराज जगन्नाथ ही वास्तव में प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने रस और रमणीयता दोनों की

---

* अपर्यालोचितेऽप्यर्थे बन्ध सौंदर्य सम्पदा।
गीतवद्धृदयाह्लादं तद्विदां विदधाति यत्॥

† वाच्यावबोध निष्पत्तौ पदवाक्यार्थ वर्जितम्।
यत्किमप्यर्पयत्यन्त पानकास्वादवत् सताम्॥

अपनी सत्ता मानी और रमणीयता पर काव्य की नींव को प्रमाणित किया। उनके अनुसार रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द ही काव्य है और इस रमणीयता को उन्होंने लोकोत्तरह्लादजनक ज्ञानगोचरता कहा है। रमणीयता पर विस्तार से विश्लेषण तो उन्होंने नहीं किया है और न लोकोत्तर को अनुभव-गम्य कहने के अतिरिक्त उसके विशेष लक्षण ही बताये हैं, किन्तु उनके काव्य-लक्षण की पर्यालोचना से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जगन्नाथ को इसकी सुस्पष्ट धारणा थी कि सौंदर्य वास्तव में होता क्या है। रमणीयता को उन्होंने चमत्कार कहा है। यह चमत्कार न तो अद्भुत (वोंडर स्पिरिट) है और न अंग्रेजी का थ्रिल्। जगन्नाथ ने इस चमत्कार को मन की उस अवस्था का दान माना है, जब किसी काव्य के आस्वादन के समय अंतर्हृदय और प्रकाशमान चित्त एक या अनुसंधित्सु हो उठते हैं। इसके पीछे खास-खास संस्कार होते हैं एवं संस्कारजन्य विविध अनुसंधानो से यह चमत्कार संश्लिष्ट होता है। और कि वह चमत्कार है लोकोत्तर ह्लाद-जनक ज्ञानगोचरता। स्वभावतया उसके दो पहलू होते हैं—एक तो कि व्यक्तिगत सुख-सुविधा का चमत्कारत्व रमणीयता नहीं है: वह चमत्कार रसज्ञों के अनुभव द्वारा वेद्य एवं अन्य प्रकार के आह्लाद से स्वतन्त्र जाति का है। वह लोकोत्तर अर्थात् भौतिक प्रयोजनों के संसर्ग से परे है। दूसरा कि वह एक आनन्दमय ज्ञान है, किसी वस्तु या अर्थविशेष के सहारे प्रस्फुटित है।† जिस चमत्कार को उन्होंने काव्यत्व माना है, उसे वे मात्र आह्लाद या आनन्द नहीं कहते, बल्कि उससे उन्होंने काव्यानन्द में सौंदर्यरूप वासना से चित्त के मिलन की एक जो व्याख्या नहीं कर सकने योग्य अनुभूति है, उसका इशारा किया है। रमणीयता से कुछ न कुछ रस संश्लिष्ट हो सकता है, किन्तु उसकी अपनी भी सत्ता है और कहीं-कहीं रस के होते हुए भी रमणीयता प्रधानता होती है। सौंदर्य-बोध से जो ज्ञान जड़ित होते हैं, उन सब का अपना-अपना एक विशेष रूप होता है और वे परस्पर अविच्छिन्न होते हैं। रस की निष्पत्ति में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी का संयोग माना गया है। ऐसे वाक्य तो शायद ही मिलें कि उनमें किसी न किसी रूप में विभाव-अनुभाव न हो, किन्तु रस तीनों के संयोग से ही सम्भव है। किन्तु जगन्नाथ ने रसोद्बोधकता को ही काव्य का नियामक नहीं माना,

† लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापर पर्यायोऽनुभव साक्षिको जाति-विशेषः।

रमणीयता को माना है। उनकी राय में यदि रसोद्बोधकता ही काव्य होती, तो नटों के विविध हाव-भाव और अंग विकार भी काव्य होते क्योंकि उनसे भी रस उत्पन्न होता है। मात्र रसमय वाक्य को ही यदि काव्य मान लिया जाय, जैसा कि साहित्य दर्पणकार ने कहा है, तो अलंकार प्रधान काव्य या स्वभाव वर्णन के काव्य काव्य ही नहीं होंगे और इस प्रकार अनेक उत्तम रचनायें काव्यपदवाच्च होने से वंचित रह जायँगी। मम्मट के 'अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ शब्दार्थौ काव्य' पर श्री जगन्नाथ ने कहा कि शब्दार्थ के साहित्य के बजाय मात्र शब्द को ही काव्य कहा जा सकता है। अन्त में रस को भी रमणीयता का ही जनक बता कर, रमणीयता की भित्ति पर काव्य को प्रतिष्ठित करके उन्होंने सारे विवाद का अन्त करना चाहा। कहा, रस की इस प्रकार भिन्न भिन्न विद्वानों द्वारा भिन्न भिन्न व्याख्या होने पर भी मनीषियों द्वारा वह परम आह्लाद रूप में ही प्रतीयमान हुआ है और वह काव्य में रमणीयता लाता है, इसलिये सभी विवाद मिट जाते हैं।*

प्रकृति, प्रक्रिया और प्राप्ति, इन तीनों के विचार से जो स्वरूप और धर्म भारतीय रस का होता है, लगभग वही सौंदर्य का है। अत काव्य विचार में रस का जो लक्ष्य है, वही कला विचार में सौंदर्य का। रस तथा सौंदर्य सृष्टि का स्वभावतया हम एक ही आशय ग्रहण करते हैं, कुछ तर्कजन्य सूक्ष्म भेद हो सकते हैं, वे लक्षणगत कहे जा सकते हैं, मूल उद्देश्यगत नहीं और इसलिये दोनों तुल्यरूप हैं। भरत ने नाट्यसूत्र में रस निर्देश किया है, विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद् रस निष्पत्ति —अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस होता है। वस्तु और पारिपार्श्विक अवस्थायें, जिनके आलंबन और अनुकूलता से रस होता है—विभाव हैं और ये आलम्बन तथा उद्दीपन कहे जाते हैं। इन्हें ऑब्जेक्टिव कंडीशन्स कहा जा सकता है। एक के अवलम्बन से और दूसरे के उद्दीपित किये रस सृष्टि में सहयोग मिलता है। शारीरिक अंग विक्षेप जो मनोभाव के व्यक्त करने के साधन हैं—अनुभाव है। इसे एक्सप्रेशन कह सकते हैं, जिसके द्वारा भाव या इमोशन प्रकट होता है। मूल भाव के साथ उपादान स्वरूप अन्य जो चञ्चल भाव चित्त का अनुरंजन करते हैं, उन्हीं को व्यभिचारी या

---

* इत्थ नाना जातीयाभि शेमुवीभिर्नाना रूपतया अवसितोऽपि मनीषिभि परमह्लादाविना भावितया प्रतीयमान प्रपचे ऽस्मिन् रसो रमणीयताम् आवहतीति निर्विवादम्।

संचारी भाव कहते हैं—यथा शृंगार में लज्जा, आनन्द, शंका। भट्टलोल्लट आदि ने भी रस की उत्पत्ति के बारे में यही कहा है कि हमारे हृदय के स्थायी भावों के साथ विभाव आदि का योग होने से रस उत्पन्न होता है। हमारे चित्त में कतिपय भाव सदा-सर्वदा वर्तमान रहते हैं, जो संख्या में आठ हैं—रति या यौन भाव (सेक्स इमोशन), वियोग जनित दुःख या करुणा (पैथोस), हास (सेन्स ऑव दि लुडिक्रस), उत्साह या वीर भाव (हिरोयिक), क्रोध (ऐंगर), वीभत्स (डिसगष्ट), भय (फीयर) और अद्भुत (वोंडर)। कारण, कार्य, या सहकारी ये जो रति प्रभृति स्थायी भाव लोगों में हैं, यही जब नाटक या काव्य में होते हैं, तो उन्हें विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी कहते है, उन्हीं से जो भाव व्यक्त होता है, वही रस कहलाता है।† जगन्नाथ भी कहते हैं, सामाजिक के हृदय में वासनारूप स्थित रति आदि भाव प्रजाता के परिमित स्वधर्म नष्ट होने से स्वप्रकाश एवं वास्तव स्वरूपानंद से गोचर होने पर रस होता है।

सारांश कि रस विभाव के अवलंबन से सृष्ट और पुष्ट होता है, सौंदर्य वस्तु के। रस में भाव और सौंदर्य में रूप की प्रधानता है। विभाव मूलतया वस्तु ही हैं। हमारे वासनालोक में वह जो रूप लेता है, उसकी दो दिशायें होती हैं—भाव और अर्थ। वस्तु के ये दो धर्म हैं, जो मानव-चित्त में अंगांगी रूप से जड़ित रहते हैं। भाव में भी अर्थ होता है और अर्थ में भी भाव होता है। कभी-कभी किसी की आपेक्षिक प्रधानता अवश्य होती है, किंतु रहते दोनों अविच्छेद्य रूप से ही हैं। चाहे भाव प्रधान हो, चाहे अर्थ, अंगीरूप में सौंदर्य का अवस्थान दोनों में रहता है। सौंदर्य एस्थेटिक क्वालिटी है और भाव (एस्थेटिक फीलिंग) तथा अर्थ (एस्थेटिक सेन्स)। दोनों में इसीलिये उसकी वर्तमानता रहती है। एक में हृदय-वृत्ति (इमोशनल ऐसपेक्ट्स) और दूसरे में बुद्धि-वृत्ति (इंटेलेक्चुएल ऐसपेक्ट) का भी निर्देश कई लोग करते हैं। किन्तु हम काव्यगत वस्तु के दोनों रूपों में रूपात्मकता या सुन्दरता की स्थिति अनिवार्य मानते हैं। यों विचार से भाव और बोध भी परिणति में एक लक्ष्य और एकात्म ही हैं। बोध के अनुसार वस्तु के

---

† कारणान्यथ कार्याणि सहकारिणि यानि च,
रत्यादे स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्य-काव्ययोः ॥
विभावा अनुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तै विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥ —काव्यप्रकाश

धर्म को औपायिक और आत्मिक कहना पड़ेगा। बोध के दो रूप हैं, चिंता या बुद्धिगत बोध और आत्मगत बोध। बुद्धि वस्तु के यथायथ रूप को और आत्मा उसके भाव-स्वरूप को प्रस्तुत करती है। भाव के लिये भी यही बात कही जा सकती है कि भाव का एक तो रूप होता है और भाव की आत्मा भी होती है। काव्य या कला के उपजीव्य भाव से भाव की उस अन्तरात्मा को ही समझना चाहिये।

कुन्तक ने अर्थ के लिये कहा है कि वह सहृदय के हृदय में ह्लाद उत्पन्न करता है और स्वभाव से ही सुन्दर होता है। भरत ने प्रकारांतर से इस अर्थ को भी भाव ही कहा है। उनके अनुसार काव्य मूलत जो कुछ भी कहना चाहता है, वह अर्थ है, किन्तु काव्य का यह अर्थ आखिर हो क्या सकता है? वह अर्थ होगा रस और उस रस की जिससे स्थापना होती है, जो उसे आस्वाद्य बनाता है, वही भाव है। इसी तरह मम्मट ने भी कहा है—भाव ही रस होता है (स्थायी भावो रस स्मृत)।

रस की प्रतिष्ठा विभाव से मानी गयी है, रूपायन भी वस्तु से ही होता है। जैसे स्वाभाविक भाव या इमोशन वास्तव में रस नहीं होते, उसी प्रकार वास्तविक वस्तु काव्यगत रूप या सौंदर्य नहीं होती। रस की अपनी जैसी एक प्रक्रिया है, वैसी ही प्रक्रिया सौंदर्य की भी है और वह प्रक्रिया है वस्तु में चित् शक्ति या आत्मचेतना का समावेश। ध्वन्यालोककार ने कहा है—अचेतन विषय समूह भी यथायथ रूप से समुचित रस-भाव द्वारा या चेतन वृत्तात द्वारा योजित होने से ऐसा नहीं होता कि उसमें रसागता न हो। वस्तु में सौंदर्य प्रतिष्ठा में भी ठीक यही बात होती है। हेगेल ने कहा है, किसी विशिष्ट रूपापन्न चिदभिव्यक्ति को ही सौंदर्य कहते हैं। चिदभिव्यक्ति जब अपने आंतर स्वरूप में अनुरूप बना कर बाह्य-वस्तु को ग्रहण करती है, तब उसे सुन्दर कहा जाता है। बाह्य वस्तु को आंतर बनाने की जो मानसी-शक्ति है, उसी को कवि-प्रतिभा, कल्पना आदि कहते हैं। विस्तार से उसका विचार हम कर चुके हैं। यहाँ एक बात का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है कि अभि-व्यंजनावादी क्रोचे कवि-प्रतिभा की कोई विशेषता नहीं मानते। प्रतिभा के बजाय उन्होंने दृष्टि को ही सर्वस्व माना है और उसी को उन्होंने प्रकाश भी कहा है। रूप-सृष्टि करने वाली दृष्टि या और तरह की दृष्टि में भी उनकी राय में प्रकारगत कोई भेद नहीं है, जो भेद है वह परिमाण या परिसरगत है। दर्शन की अतिशयता के अतिरिक्त क्रोचे के मत से प्रतिभा का कोई अलौकिक धर्म नहीं होता। लेकिन काव्य के भाव या चित्र के रूप में उन्होंने कलाकार

के स्वच्छन्द व्यक्तित्व-प्रवाह की अनिवार्यता मानी है और इस प्रकार उन्होंने किसी भी रूप-सृष्टि के दो पहलू माने हैं एक तो मात्र रूपविधायक और दूसरा व्यक्तित्व या भावविधायक। क्रोचे ने कल्पना को भी दो भागों में विभक्त किया है—स्वच्छन्द कल्पना (फैंसी) और ऐच्छिक कल्पना (इमेजिनेशन)। स्वच्छन्द कल्पना स्वभावतया हमारे हृदय में प्रवाहित होती है और ऐच्छिक कल्पना वह है, जिसे कि हम चाह कर करते हैं या ऐच्छिक कल्पना वह वृत्ति है, जिसके सहारे कि हम किसी मूर्त्त रूप को चित्त में उपस्थापित करते हैं। सृष्टि के लिये वे स्वच्छन्द कल्पना को ही उपजीव्य मानते हैं।

वस्तुओं की रूपमयता अनेक मनीषियों द्वारा स्वीकृत नहीं है। सौंदर्य उनकी दृष्टि में मानसिक अवस्था है, वस्तुगत नहीं। जैसे कि कैंट ने कहा है, सौंदर्य एक चित्तावस्था मात्र है, एक चित्त परितोष, वह केवल प्रमाता का आत्मगत धर्म है। ह्यूम ने कहा है, सौंदर्य वस्तु-समूह का स्वभावगत कोई गुण नहीं है जो चित्त उसका चिंतन करता है, केवल मात्र उसी चित्त में उसका अवस्थान है। लेकिन हम वस्तु के रूप की अलग सत्ता मानते हैं और चित्त चमत्कार समावेश से उसकी कलागत सुन्दरता की अलग सत्ता। वस्तु का एक निजस्व रूप, धर्म अवश्य होता है, जो चित्त का उद्बोधक होता है और सौंदर्य-योजना या सृष्टि की जिससे प्रेरणा होती है। सृष्टि-सौंदर्य में शिल्पी की चेतना के संयोग से वस्तु का वह रूप अपने रूप में नहीं रहता। 'हिस्ट्री ऑॅव ऐस्थेटिक्स' में बोसांकेट ने यह बताने की चेष्टा की है कि कोई वस्तुधर्म जब कल्पना के रूप से प्रकाशित होता है, तो वह सुन्दर होता है। सौंदर्य-सृष्टि की विषय-वस्तु की व्याख्या में बर्क ने यही प्रतिपादित किया है—आंतरिक आनन्द की उद्दीपना से भौतिक उपादानों से मनुष्य कल्पना के सहारे उस आनन्द की अनुरूपता में जो सृष्टि करता है, वही सौंदर्य-सृष्टि का विषय है। सौंदर्यानुभव और सौंदर्य-सृष्टि के लिये बाहरी दुनिया का उद्बोधन और अन्तर्जगत की सृष्टि-प्रक्रिया दोनों अपेक्षित है।

मनुष्य के जैसे स्थायीभाव हैं और विभाव यानी जागतिक उपादानों की उद्दीपना से वे रसानुभव के आधार होते हैं, उसी प्रकार जाग्रत मन या अन्तःपुरुष के स्मृति, संस्कार, इच्छा आदि स्थायी अंग हैं, उनके अनुरूप परिचय से, संस्कार-भूमि के रूप की सादृश्य-सामग्री से जो आत्म-परिचय होता है, वही सौंदर्य है। कैंट ने इसको इस रूप में कहा है कि किसी एक अन्तरंग नियम के वशवर्त्ती होकर जब कोई रूप हमारी चित्त-वृत्ति में उसी विशिष्ट आकार में प्रकट होता है, तो उसे सौंदर्य कहते हैं। अतः सौंदर्यानुभव

के लिये वस्तु के आंतर और वहिर्व्यापार दोनों अपेक्षित हैं और सौंदर्य-सृष्टि के लिये अन्तश्चेतना का उसपर आरोप। सुन्दर में वास्तविक रूप में रूप अरूप, वस्तु-कल्पना, भाव और आकार एकाकार है। सौंदर्यानुभूति मे अभिव्यञ्जना से हमारा जो आशय होता है, वह न तो मात्र वस्तु ज्ञान है, न उसकी प्राकृतिक सत्ता। दोनों के युक्त रूप में कल्पना के सहयोग से वस्तु जिस रूप में प्रतीयमान होती है, उसी रूप से सौंदर्यानुभूति का सम्बन्ध है।

संक्षेप में स्वरूप विवेचन द्वारा हमने यह देखा कि रस या सौंदर्य लगभग एक ही है। काव्य की रूप-सृष्टि के लिये आवेगमय अनुभूति और कल्पना के अतिरिक्त भी बुद्धिविवेक आदि की उपयोगिता मानी गयी है। सौंदर्य-बोध की सामग्री में भी ह्लाद, ज्ञान, संस्कार, व्यापार आदि का अपना अपना भाग होता है। क्रोचे ने इसीलिये आत्मपुरुष के निर्माण में चार प्रकार की वृत्तियों को स्वीकार किया है—वीक्षामूलक (ऐस्थेटिक ऐक्टिविटी), अन्वीक्षा मूलक (लाजिकल ऐक्टिविटी), विधिमूलक (प्रैक्टिकल ऐक्टिविटी) और योगक्षेममूलक (इकनामिक ऐक्टिविटी)। कवि या चित्रकार अपने ध्यानबल से चित्र दर्पण में पूर्वानुभूत भाव-संवेग या रस को उतारते हैं। इस प्रक्रिया से जो रूप सृष्टि होती है, वह वैदिक सृष्टि है। क्रोचे कहते हैं, इसीलिये ऐसी सृष्टि नित्य हुआ करती है, जबकि स्वयं जीवन क्षणभंगुर होता है। कैंट ने भी बुद्धि और विवेक—अंडरस्टैंडिंग ऐण्ड रीजन—की चर्चा में कहा है कि हमारा अन्तर्जगत केवल ज्ञान से ही निर्मित नहीं है, उसके निर्माण का एक प्रधान उपकरण इच्छा भी है। सौंदर्य दर्शन की व्यापकता की आलोचना में रवींद्र ने मन के ऐसे कई स्तरों का उल्लेख किया है। वे कहते है—दृष्टि के साथ मन के संयोग से सौंदर्य की विशेष रूप से प्रतीति हो सकती है। इस मन के भी कई स्तर हैं। यदि उसके साथ हमारा हृदय-भाव मिल जाय, तो हम उससे कहीं अधिक देख सकते हैं, जितना कि हम बुद्धि विचार से देखते हैं। उसके साथ धर्म-बुद्धि के मिल जाने से दूरदर्शिता और अधिक बढ जाती है और कहीं आध्यात्मिक दृष्टि खुल जाय तो दृष्टि-क्षेत्र की सीमा ही नहीं रह जाती। जिस भाव से रस माना गया है, सौंदर्य भी वास्तव में उसीका प्रकाशन है। फलस्वरूप सौंदर्य और रस में इसके अनुसार कोई अन्तर नहीं रह जाता।

कई लोग सौंदर्य और रमणीयता में भी एक सूक्ष्म भेद देख पाते हैं। सौंदर्य तात्कालिक आनन्द का बोधक है और रमणीयता में मन को रमा लेने की शक्ति है और वह प्रतिक्षण नया रूप लेता है। इसके अनुसार रसबोध,

और रम्यबोध, काव्य की दो स्थितियाँ कुछ लोगों ने स्थिर की हैं--गोकि वे यह भी मानते हैं कि रस के सिवाय रम्यबोध नहीं होता और न रम्यबोध के बिना रसबोध होता है। वैसे तो कई समालोचकों ने रस के भी दो भेद किये हैं—आधिकारिक और प्रासंगिक। आधिकारिक अधिक व्यापक और स्थायी होता है। आनन्द को भी भाव-मूलक और रसमूलक—दो रूप से बताया गया है। जो हो, रस के रूप का कोई भेद मान्य नहीं है। सौंदर्य शब्द पर से ही ऐसा सोचना हमारी समझ में खास कोई महत्व नहीं रखता, वह जिस अर्थ में लिया जाता है, जिस आशय में प्रयुक्त होता है, उसकी ओर भी हमारा ध्यान होना चाहिये। सौंदर्य और रस के लक्ष्य या फल की दृष्टि से भी हम विचार देखें कि दोनों में समता है या नहीं। काव्य के प्रयोजन का हमारे यहाँ बड़ा विस्तृत विचार हुआ है। काव्य के फल अनेक माने गये हैं—किन्तु सब की सारभूत प्राप्ति आनन्द ही मानी गयी है—ब्रह्मानन्द सहोदर। रस के चरम लक्ष्य की जो संज्ञा विभिन्न विचारकों ने दी है, वह है, निर्वृति, ह्लाद, आह्लाद। इन सारे शब्दों से जो अर्थबोध हो सकता है या होता है, वह आनंद के अतिरिक्त और कुछ नहीं। अलंकार-कौस्तुभ में कर्णपूर ने लिखा है, वाह्य और अंतरिंद्रियो के व्यापारों को निरुद्ध करके स्वकारण से विभावादि के साथ संश्लिष्ट होने से जो सुख होता है, वही रस है।† दशरूपककार ने काव्य के अर्थ से आत्मस्वरूप को मिलने वाले आनन्द को ही रस कहा है। जगन्नाथ ने तो स्पष्टतया ही प्रमाणित किया है कि रसो की भी प्रतिष्ठा रमणीयता है और वह लोकोत्तर ह्लादजनक है। बहुत बार रस और आनन्द एक ही अर्थ में व्यवहृत हुए हैं। इसका विचार हम पिछले एक प्रकरण में कर चुके हैं। मम्मट ने आनन्द के साथ कुछ और प्रयोजन भी काव्य के अंगीकार किये हैं, जिसमें 'उपदेशयुजे' भी लिखा है। किन्तु भारतीय काव्य-विचार की परम्परा में उपदेश काव्य के प्रधान प्रयोजन में नहीं माना गया। धनञ्जय ने उपदेशात्मकता को काव्य का लक्ष्य नहीं स्वीकार करते हुए कहा—यदि शास्त्रो के समान काव्य का प्रयोजन भी व्युत्पत्ति और उपदेश ही है, तो नये सिरे से इसकी रचना ही क्यों हुई? यह काम तो अन्य शास्त्रों से चलता था। और इस प्रकार उन्होंने आस्वादजन्य आनन्द को ही काव्य का लक्ष्य माना। दंडी, वामन, रुद्रट, उद्‌भट आदि ने भी उसे मुख्यता नहीं दी।

---

† वहिरन्तः करणयोर्व्यापारान्तर-रोधकम्।
स्वकारणादि संश्लेषि चमत्कारि सुखं रसः॥

सामान्यतया काव्य रचना का उद्देश्य यहाँ उपदेश देना अथवा चित्त-शुद्धि करना नहीं रहा, लेकिन रस की चरम परिणति में स्वभावतया चित्त-शुद्धि की बात समझ में आ सकती है। सौंदर्यवादियों ने भी काव्य या कला का लक्ष्य आनन्द को ही माना है। अरस्तू ने सुन्दर में सत्य और हित के समन्वय द्वारा उससे नैतिक प्रयोजन की भी सिद्धि चाही थी और उसकी उपदेशात्मकता का आदर्श भी रक्खा था, किन्तु उन्होंने भी कला और काव्य को मुख्यतया रस का प्रतिष्ठापक कहा और कहा कि उस रस का लक्ष्य आनन्द है—ऊर्द्ध्व-भूमि का आनन्द (प्योर ऐण्ड एलिवेटेड प्लेजर)।

कैंट ने, ऐसे सौंदर्य के आनन्द को साधारण प्रयोजन-सिद्धि के आनन्द से परे माना है। उनका विचार है, बाह्य और अन्तर्जगत का एक उद्देश्य विधेयता-सम्बन्ध है। बाह्य जगत में विचित्रताओं का बाहुल्य है, फिर भी उसमें एक ऐसा ऐक्य है जो हमारे ज्ञान और इच्छा से बदलता रहता है। हम उस ऐक्य को जभी अनुभव करते हैं, तभी बाहरी दुनिया से अपने प्रकृतिगत सम्बन्ध की जानकारी से आनंदित होते हैं। चूंकि वह आनन्द वस्तुरूप के अवलम्बन से प्रकाशित होता है, इसलिये वैयक्तिक होते हुए भी सर्वसाधिक होता है, प्रयोजनवर्जित होता है, इसलिये सर्वसाधारण होता है। वस्तु प्रकाशित अथच वस्तुनिरपेक्ष यह जो आनन्द है, वह सौंदर्य का आनन्द है। सौंदर्य का स्वरूप बताते हुए कैंट कहते हैं—जिस किसी वस्तु को हम सौंदर्य सपन्न या सुन्दर कहते हैं, समझना होगा कि उसने अज्ञात रूप से हमारे अन्तर के किसी न किसी आदर्श को पूरा किया है। जैसा कि कालिदास ने कहा है, रम्य दृश्य देख कर या मधुर शब्द सुनकर सुखी मनुष्य भी इसलिये उत्कंठित हो उठते हैं क्योंकि निश्चय ही वह भाव जमे हुए जन्म जन्मान्तर के सौहार्द को अनजान में स्मरण करता है।† कैंट ने इसको सौंदर्य वेदना कहा है—स्रष्टा और दृश्य में किसी अज्ञात सामजस्य से ही वह सौंदर्य वेदना होती है। ऐसी सौंदर्य वेदना स्वार्थविहीन आनन्द होती है। मेंडल्सन (Mendel ssohn) ने विश्लेषण द्वारा प्रयोजन रहित सौंदर्यानन्द की स्थिति स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उन्होंने आत्मा की दो वृत्तियां बतायी हैं। एक ज्ञानवृत्ति,

---

† रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनम् अबोधपूर्वं
भावस्थिरानि जननान्तर सौहृदानि ॥ —शकुन्तला

दूसरी अभिलाषवृत्ति। हमें जो दुःख-सुख की अनुभूति होती है, वह हमारे चित्त की इस अभिलाषवृत्ति द्वारा ही होती है। किन्तु इनके बीचोबीच एक ऐसी भी वृत्ति हमारे मन की है, जिससे जब हम सुन्दर को देखते हैं तो अभिलाषाजन्य कोई सुख-बोध नहीं रहता। उस वृत्ति से सौंदर्य-दर्शन में विशुद्ध आनन्द ही रहता है, स्वार्थपरक लाभालाभ का सुख-दुख नहीं। उस वृत्ति का नाम उन्होंने अनुमोदन वृत्ति दिया है। फलस्वरूप हम देखते हैं कि सौंदर्य विशुद्ध आनन्द का जनक है। सौंदर्य में हृदगत् धर्म भी है और उसका फल आनन्द है। कला में आत्म-चेतना के संस्पर्श से ही यह सुन्दरता आती है। गेटे ने तो यहां तक कहा है कि सृष्टि आत्मसृष्टि भी हो और उसमें सौंदर्य का स्पर्श न हो तो उसे शिल्प की महत्ता नहीं मिल सकती। कविता हो, चाहे चित्र, मूर्त्ति, संगीत आदि शिल्प--सब की आत्मा आनन्द है। अभिनव गुप्त ने जो रस की व्याख्या दी है—संक्षेप में कहा जाय, तो वह होगी-भाव-तन्मय चित्त में संवेदानन्द का प्रकाश। रस जैसे ब्रह्मास्वाद सहोदर है, सौंदर्य सनातन आनन्द है—जॉय फॉर एवर। सुन्दर वास्तव में वही है, जो हमें आनन्द देता है, वह कोई वस्तु नहीं, एक रस-संचारी प्रेरणा है। रवींद्र ने सौंदर्य मात्र को ऐब्सट्रैक्ट कहा है और अपनी अन्यतम रचना 'ऊर्बशी' में वैसे सौंदर्य की अवतारणा की है। उनकी वह कविता बंगला की गीति-कविताओं में तो सर्वोपरि है ही, विश्व-साहित्य में सौंदर्य-पूजा की कविताओं में भी अन्यतम है। उरु का अर्थ है—विस्तीर्ण, बहुव्यापी; और असि—होओ। ऐसी जो है, वह ऊर्बशी है। ऊर्बशी का प्रणयाकांक्षी था पुरुरवा। पुरु के मानी प्रचुर और रवस् अर्थात् दीप्ति। ऋग्वेद के दशम मंडल में ऊर्बशी की कथा आयी है। ऊर्बशी का ऊषा और पुरुरवा का सूर्य अर्थ भी लगाया गया है। सूर्य के उदय से ऊषा भागती है। मिलन की कामना और वियोग की व्यथा की एक चिरंतन कहानी। रवीन्द्र ने ऊर्बशी को मूर्त्तिमती सुन्दरता ही माना है, सौंदर्य की एक अखंड सत्ता, आवश्यकताओं की सीमा से बाहर, विकारों की मलिनता से अछूती अपने आप में पूर्ण। ऊर्बशी को कवि ने कहा—

नह माता, नह कन्या, नह वधू, सुन्दरी रूपसी
हे, नन्दनवासिनी ऊर्बशी।

हे नन्दनवासिनी ऊर्बशी, तुम न तो माता हो, न वधू, न कन्या। तुम रूप की प्रतिमा हो, सौंदर्य की मूरत।

नारी के तीन ही तो रूप हैं, माता, कन्या और भार्या। किन्तु कवि ने

ऊर्वशी को इन तीनों में से एक भी नहीं कहा। न तुम किसी के घर सन्ध्या दीप जलाती हो, न मिलन की सेज सजाती हो। तुम तो स्वर्ग के उदयाचल की मूर्तिमती उषा हो, जिसका कि भुवनमोहन रूप है। और, विश्ववासना के खिले कमल पर तुम्हारे पादपद्म स्थित हैं। हे ऊर्वशी, तुम कभी कली सी बालिका भी रही थीं क्या ?

यह वस्तु निरपेक्ष सौंदर्य का निदर्शन है जिसे 'ऐब्सट्रैक्ट ऐंड ऐब्सोल्युट ब्यूटी' कहते हैं। संसार के किसी रहस्य-सागर की गोद में सौंदर्य का जन्म है। उस अखंड सत्ता का आभास हमें विश्व सौंदर्य में रह रह कर मिलता है।*

सौंदर्य-विचार का क्रम बहुत-बहुत पहले से चला आ रहा है, किन्तु सौंदर्य शास्त्र का स्थान अभी भी विशुद्ध दर्शनों में प्रतिष्ठित नहीं हो सका है, क्योंकि यह विज्ञान अभी भी अपनी प्रयोगावस्था में है। आज भी सौंदर्य की कोई सुनिश्चित सर्वमान्य व्याख्या ढूंढे नहीं मिलती। सौंदर्य की परिभाषा में सामान्यतया यही कहा जाता है कि वह वस्तु का एक गुण विशेष है, जो मन को खींचता और मुग्ध करता है तथा जिसमें यह चित्ताकर्षकता एवं मनोमुग्धकारिता है, वही सुन्दर है। वास्तव में सौंदर्य एक विशिष्ट बोध है, जिसके पीछे ज्ञान, आनन्द, क्रियात्मक वृत्ति आदि का सामंजस्य है। इसीलिये उसका कोई सर्वमान्य लक्षण देना सम्भव भी नहीं। इस सौंदर्य का आनन्द भी एक स्वतंत्र कोटि का है, जो कि अनुभववेद्य है—न तो वह प्रत्यक्ष अनुमित हो सकता है, न प्रमाणित। लेकिन सौंदर्य की उपलब्धि होती है, इसमें किसी प्रकार के सन्देह की गुंजाइश नहीं। यह उपलब्धि आंतरिकता से होती है या बाहरी कारणों से या दोनों ही के मेल से, इस पर भी विचारक संदिग्ध हैं। न तो सब समय सभी वस्तुओं में और न सब समय किसी एक ही वस्तु में सुन्दरता का अनुभव होता है, इसलिये यह स्पष्ट हो जाता है कि सौंदर्य-बोध

---

* सुर सभातले जबे नृत्य करो पुलके उल्लसि
हे हिल्लोल बिल्लोल ऊर्वशी,
छन्दे-छन्दे नाचि उठे सिंधु माझे तरंगेर दल
शस्यशीर्षे सिहरिया काँपि उठे धरार अंचल
तव स्तनहार होते नभस्तले खसि पडे तारा
अकस्मात पुरुषेर वक्षोमाझे चित्त आत्महारा
नाचे रक्त धारा

का कोई कारण जरूर है। इस कारण-विचार में विचारकों में बहुत बड़ा मतभेद है। सब को सब चीज एक ही जैसी सुन्दर नहीं लगती या एक ही आदमी को एक चीज सब समय एक-सी सुन्दर नहीं लगती। इस कारण बहुतो ने सौंदर्य को मानसिक अवस्था माना है। यदि सुन्दरता कोई वस्तुगत धर्म होती, तो निश्चय ही कोई सुन्दर वस्तु हर को हर समय सुन्दर लगती। पेड़ के पत्ते झड़ते हैं। एक शोक-संतप्त की स्थिति की व्यापकता के लिये उसे प्रकृति के आँसू गिरने का निर्देश दिया जाता है, एक आनन्द-विह्वल के लिये खुशी के फूल झड़ने का। फलस्वरूप सौंदर्य आत्मगत धर्म है—ऐसा अनेक लोग मानते हैं। इस मत के पोषकों में अनन्य हैं क्रोचे। क्रोचे सौंदर्य को मूलतया मानसिक ही मानते हैं। उनकी राय में वीक्षावृत्ति के बिना कोई भी वस्तु ज्ञानगोचर नहीं हो सकती, अतः सुन्दरता किसी भी हालत में बाहर की वस्तु नहीं।

हमारी मनोवृत्ति की सक्रियता में मुख्यतया दो तरह के ज्ञान या वृत्तियों का योग रहता है। एक प्रत्यक्ष यानी रूपात्मकवृत्ति और दूसरी अन्वीक्षा-मूलक। रूपात्मक में रूप, रस, शब्द, स्पर्श का ज्ञान आता है और अन्वीक्षा-(लाजिकल) में प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा आहृत उपादानों का खास-खास सम्बन्धों से योग या वियोग। यों भी कह सकते हैं कि ये दो दृष्टियाँ हैं—एक से हम रूप को देखते हैं, उसके प्रत्यक्ष स्वरूप में और दूसरी से उस सम्बन्ध को देखते हैं, जो रूप-तरंगों के अनेकत्व या विविध वैचित्र्य में होता है। अन्वीक्षा द्वारा वस्तु के एक सर्वथा नवीन दर्शन की दृष्टि मिलती है। दर्शन या विज्ञान में अन्वीक्षा की यह दृष्टि समान रूप से पायी जाती है। किन्तु जिससे हम सुन्दरता का दर्शन करते हैं, वह इन दोनों से भिन्न एक तीसरी ही दृष्टि है। इस दृष्टि का वैशिष्ट्य यही है कि इससे हम वस्तु को अपने प्रयोजन में नहीं, बल्कि उसके रूप-रंग की समग्रता में अपने आंतर संस्कार के ऐक्य में देखते हैं। इस ऐक्य के परिचय में एक निर्भाषाबोध है, जो कहा नहीं जा सकता, समझा जा सकता है। इसमें प्रकार और प्रकारी का वैशिष्ट्य-भेद भी स्पष्ट नही होता और न खोल कर ही बताने की योग्यता आ सकती है कि यह जो वस्तु हमें सुन्दर प्रतीत हुई, सो क्यों हुई। इसमे सन्देह नहीं कि उस अनुभव में एक सम्बन्ध-परम्परा अवश्य है, किन्तु वह अखण्ड है और कही नहीं जा सकती। सौंदर्य-बोध का यह उल्लास अखण्ड और विकल्प-विहीन होता है। ज्ञान जब तर्क की सीमा छोड़ जाता है और उस ऊर्ध्व-भूमि में जब वस्तु की परिणति सम्यक् दृष्टि में हो जाती है, तब सौंदर्य का

प्रकाश होता है। यह प्रकाश हमारी वह तीसरी दृष्टि देखती है, जिसका नाम पण्डितों ने वीक्षा या इन्ट्युशन दिया है।

क्रोचे ने चित्त के दो अंश माने हैं—बोधात्मक और व्यापारात्मक और अन्तर्जगत की इन दो शक्तियों का नाम उन्होंने दिया है, वीक्षामूलक और अन्वीक्षामूलक। इन्ट्यूशन को क्रोचे ने मानसिक व्यापारजन्य माना है और इसीलिये सुन्दरता को भी उन्होंने एक आत्मगत धर्म कहा है क्योंकि उनके विचार से कोई भी वस्तु वीक्षावृत्ति के बिना ज्ञानगोचर हो ही नहीं सकती। वैक्तिक अनुभूति क्रोचे के अनुसार वहिर्जगत् के स्पर्श को अपने ध्यान-बल से हृदय में विचारण करता है। वाह्यजगत् की सत्ता को स्पष्टतया अस्वीकार करते हुए उन्होंने प्रकारांतर से वहिर्जगत् के स्पर्श (इम्प्रेशन) को स्वीकारा है। इस बाहरी स्पर्श को उन्होंने अज्ञेय कहा है। विषय को भी उन्होंने अनुभूति का 'अविषय' कहा है, साथ ही यह भी कहा है कि विषयों का हमें एक अस्फुट बोध होता है।† वास्तव में यह परस्परविरोधी बात है। क्रोचे ने बहुत बार यह कहा है कि वीक्षावृत्ति द्वारा अपनाये न जाने से अन्वीक्षावृत्ति कार्यकरी नहीं हो सकती। स्पर्श के सम्बन्ध में भी उनका निश्चय डाँवाडोल-सा है। उस स्पर्श का, जिसे उन्होंने बाहरी और अज्ञात कहा है, वीक्षावृत्ति द्वारा संशोधित, परिवर्द्धित और ज्ञात होना उन्होंने कबूल किया है। फलस्वरूप यह मानना ही पड़ेगा कि जिसका संशोधन परिवर्द्धन सम्भव है, उसकी अपनी स्थिति, धर्म और लक्षण भी अवश्य है। क्रोचे ने उस बाहरी स्पर्श से सौंदर्य-बोध का क्या सम्बन्ध है, इसे स्पष्ट नहीं किया है, बल्कि सौंदर्य, सौंदर्यबोध और सौंदर्यसृष्टि—सब को एक स्वीकार कर लिया है। यह सिद्धान्त मान्य होने योग्य नहीं और न ही सौंदर्यबोध को वाह्यसंपर्क विहीन सर्वथा अनुभूति पर ही आधारित माना जा सकता है।

सुन्दर के विचार में वस्तु और आकृति (कंटेंट एंड फॉर्म) की भी चर्चा आती है। काव्य या रचना-विचार में भी विचार का आधार यही दो बातें हैं। कोई वस्तु में, कोई आकृति या प्रकाश-कौशल में और कोई-कोई दोनों की समग्रता में सौंदर्य का अवस्थान मानते हैं। इस सम्बन्ध में कुंतक आदि की चर्चा हम कर आये हैं। वस्तु के बजाय विन्यास की नवीनता की भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। शब्द-विन्यास की नूतनता या वस्तु के नियोजन

---

† वी टु कैच ए ग्लिप्स ऑव समथिंग बट दिस इज़ नॉट एपीयर टु दि माइंड ऐज ऑब्जेक्टिफाइड ऐंड फार्म्ड।

का कौशल भी सुन्दर होता है। साहित्य की मौलिकता में वस्तु के बजाय प्रकाश-भंगी की महत्ता मानी गयी है। क्योंकि भाव-विचार तो युग या व्यक्तिविशेष का नहीं होता, वह सर्वजनीन और सर्वकालिक ही होता है। नया युग और नये स्रष्टा उसे जिस कुशलता से नियोजित करते हैं, साहित्य की मौलिकता उसी में मानी जाती है। वस्तु के विन्यास की नूतनता पर जयन्त ने यही कहा है।* रवींद्र ने अपनी एक कविता में कवियों, साहित्यिकों के प्रति प्रकृति के एक चिरंतन आवेदन की चर्चा की है। प्रकृति कहती है—हे कवि, हे साहित्यिक, मुझ चिरपुरातन को फिर से नयी बना लो।† शब्दार्थ के साहित्य पर विस्तार से कहा जा चुका है। क्रोचे ने प्रकाशभंगी (फार्म) को ही सौंदर्य का मूल माना है। उनकी राय में विषयवस्तु या विषयवस्तु और प्रकाशभंगी का संयोग सौंदर्य का नियामक नहीं हो सकता। विषयवस्तु का वास्तव में स्वस्वभाव वस्तुत्व तो वीक्षावृत्ति से ही सम्भव है। अतः सौंदर्य की निष्पत्ति वीक्षावृत्ति से होती है। इसलिये सौंदर्य वस्तु और प्रकाश के संयोग में नहीं, प्रकाश में है। आकृति या फार्म के लिये क्रोचे ने दो बातें कही हैं—फार्म कूटस्थ होता है (फार्म इज़ कन्स्टेन्ट) और वह एक आध्यात्मिक व्यापार है (इट इज़ स्पिरिचुअल ऐक्टिविटी)। जो भी हो, फार्म का जो स्वरूप है, यथार्थतः वह वस्तु या विषय निरपेक्ष नहीं हो सकता, जैसा कि क्रोचे ने कहा है।

वामागार्टन ने भी, जिनकी 'ऐस्थेटिका' से यूरोप में सौंदर्यशास्त्र का आरम्भ होता है, सौंदर्य को वाह्यिक के बजाय आभ्यन्तरिक ही माना है। उनके अनुसार ऐंद्रियक वस्तुओं का सामंजस्य सुन्दर नहीं, वल्कि ऐन्द्रियक-बोध का सामंजस्य सुन्दर होता है और उसमें पूर्णता का होना आवश्यक है। वामागार्टन सामंजस्य की उस पूर्णता का आदर्श प्रकृति में ही देखते थे—इसीलिये कला का चरम उद्देश्य उन्होने प्रकृति के अनुकरण को माना। इसके विपरीत रस्किन आदि मनीषियों ने दृश्य जगत् में ही सौंदर्य की अवस्थिति मानी है। रस्किन ने प्राकृतिक वस्तुओं की सुन्दरता को चरम कहते हुए यह कहा है कि

---

* कुतो वा नूतनं वस्तु वयमुत्प्रेक्षितुं क्षमाः।
वचो विन्यास वैचित्र्यमात्रमत्र विचार्यताम्॥

† ओगो कवि, ओगो साहित्यिक
नूतन करिया लह आरबार
चिर पुरातन मोरे।

जब भी उसके अतिक्रमण की चेष्टा होती है, असुन्दर की सृष्टि होती है। रस्किन ने सौंदर्य की दो सत्तायें अंगीकार कीं—आंतर और बाह्य। किसी वस्तु या प्राणी के जिस बाहरी गुण से हम उसे सुन्दर कहते हैं, वह सौंदर्य की बाहरी सत्ता है। रस्किन ने उसे 'टिपिकल ब्यूटी' कहा है। आनन्द और सुख-संगत जीवन व्यतीत करते हुए जीवों में जो सुखबोध उत्पन्न होता है, वह आंतर सौंदर्य या 'वाइटल ब्यूटी' है। रस्किन से पहले भी शेफ्ट्सबरी आदि कुछ विचारकों ने बाह्य जगत् में ही रूप की स्थिति प्रमाणित करने की चेष्टा की थी। किन्तु सौंदर्य को बाह्य वस्तुगत मानते हुए भी वे कारण-स्वरूप कोई कुंजी नहीं दे सके कि जब सुन्दरता वस्तुगत है तो फिर क्यों कोई वस्तु असुंदर और कोई सुंदर होती है।

बामागार्टन ने सौंदर्य को आभ्यंतरिक कहते हुए ज्ञान की भाषा में उसके प्रकाश की असमर्थता प्रकट की। उन्होंने ऐन्द्रियबोध के सामंजस्य को सुंदर की आख्या दी। उनके मुताबिक ऐन्द्रियबोध में एक स्वाभाविक सामंजस्य है। वह सामंजस्य हमारे हृदय को सुख देता है। उस सामंजस्य और सुख का नाम ही सौंदर्य है, जिसे हम ज्ञान की भाषा में प्रकाशित नहीं कर सकते। इस सामंजस्य में बामागार्टन ने पूर्णता मानी है। पूर्णता से उनका अभिप्राय अङ्ग और समग्रता के सम्पूर्ण अविरोध से है—अनेकता में जो एक ऐक्य है, उसी से है। इसी पूर्णता में सौंदर्य है।

सौंदर्य के लिये सामंजस्य जरूरी-सा है। स्वभावतया जो कोई वस्तु हमें सुन्दर प्रतीत होती है, देखने पर हम पाते हैं कि उसमें एक समग्रता का आभास है। कोई गीत, जब हमें विभिन्न सुर तानों से लय की मुग्धकारिता पर ले जाता है, तो उसकी वह बहुविध चेष्टा, रूप वैविध्य की गति किसी एक राग-रागिनी की प्रतिष्ठा की ओर हा होती है। उस अखण्ड रूप प्रतिष्ठा में ही वैचित्र्य और वैविध्य का समाहार हो जाता है और यही सामंजस्य सौंदर्य, सौंदर्यजन्य आनन्द का भागी होता है। कई लोग वैचित्र्य को सौंदर्य का कारण कहते हैं, किन्तु वैचित्र्य जबतक अखण्ड ऐक्य के पूरक नहीं होते, उससे सौंदर्य की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। वैचित्र्य की एक स्वाभाविक चाहना तो मन की होती है, किन्तु वह हमारी इन्द्रियों की अपेक्षा बुद्धि से विशेषतया सम्बन्धित है। वैचित्र्य की वह विच्छिन्न सुषमा बुद्धि के लिये सहजग्राह्य होती है, यद्यपि इन्द्रियों को भी उस नूतनता का कुछ आनन्द मिलता है। किन्तु बुद्धि के परे जो हमारा ध्यानलोक है, वहाँ वैचित्र्य या नवीन परिवर्त्तन का यह स्वभाव सुगमता से स्पष्ट हो उठता है कि वह सारा वैचित्र्य एक

अखण्ड ऐक्य-पूर्त्ति का ही आधार अंश है। बहुविध विचित्रता में भी एक अखण्ड ऐक्य है।

अखंड ऐक्य के स्वरूप में दो बातें मुख्य हैं। आंशिकता या आनुगुण्य (प्रोपोरशन) और सामंजस्य (सिमेट्री)। सुन्दर जहाँ कहीं भी प्रकट होता है, वहाँ आनुगुण्य अवश्य वर्तमान होता है। रस्किन ने इसके दो स्वरूप निर्द्धारित किये हैं—एपरेंट प्रोपोरशन और कन्सट्रक्टिव प्रोपोरशन। एपरेंट प्रोपोरशन वह है, जब आंशिकता के अतिरिक्त अंशों का अन्य कुछ विधेय नहीं होता और कन्सट्रक्टिव प्रोपोरशन वह है जब आंशकता परम्परानुगतता के अतिरिक्त भी कुछ विधेय रखती है। कई लोग इस आंशिकता को किसी प्रकार का सौंदर्याधार नहीं मानते। क्योंकि ऐसे जीव अनेक हैं, जो देखने में सुन्दर हैं किन्तु उनके अङ्गों में आंशिकता का आनुपातिक मान नहीं है। एक किसी जीव के हाथ-पैर के अनुसार उसके सिर के आकार को जिस अनुपात में होना चाहिये, सब समय वैसा ही नहीं होता। किन्तु यह विचार एकांगी है, क्योंकि इसमें आंशिकता के लिये केवल परिमाण की बात ध्यान में रक्खी गयी है, संस्थान का भी अपना एक महत्व होता है। अतएव प्रोपोरशन का तात्पर्य हुआ— समग्र से विषम अंशों का सम्बन्ध और सिमेट्री का हुआ— समग्रता की सुसंगति, जो कि अंश और अवयव के द्वंद्व में प्रस्फुटित होती है। कैंट ने तो वस्तुमात्र के ही दो विभाग किये हैं—स्वरूप और वस्तुता— फॉर्म और क्वालिटी।

इस प्रकार सौंदर्य को किसी ने वस्तुगत, किसी ने हृद्गत, तो किसी ने उसे केवल मनुष्य शरीरगत कहा है। विंकलमैन ने सौंदर्य में मुख्यता मनुष्य के अवयव-संस्थान को ही दी है। अन्य अनेक लोग भी ऐसा ही कुछ समझते थे। किन्तु उस सौंदर्य के लिये आकार-रेखा आदि के सामंजस्य को उन्होने भी स्वीकार किया है। हाँ, वे सौंदर्य को सृष्टि-सम्भव नहीं मानते थे। लेसिंग ने भी सौंदर्य से जड़ सौंदर्य का ही अभिप्राय लिया है। किन्तु सब प्रकार से विचार देखने पर सौंदर्य-बोध में अन्तर्जगत और वाह्यजगत दोनों की सम्मिलित सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। प्रत्येक सौंदर्य-सृष्टि में उसके दो प्रमुख अङ्ग देखे जाते हैं— एक तो उस कृति का वास्तव शरीर और दूसरा उसकी आत्मिक चेतना। अरस्तू ने अंश और समग्र की संगति को ही सौंदर्य का प्राण-धर्म प्रमाणित किया है। वास्तव में ऐसा कोई नियम हमारे हृदय का है, जिसके अनुकूल होकर जब कोई रूप हमारी चित्त-वृत्ति में प्रत्यक्ष होता है, तो उस अनुकूल व्यापार को ही हम सौंदर्य कहते हैं।

सक्षेप में जब किसी बहिर्वस्तु में हमारा अन्तर्जगत् अपने एक अज्ञात धर्म की समता पाता है और उस ऐक्य से उसे जो सुख या आनन्द मिलता है, वही सौंदर्य है। वस्तु ही सुन्दर होता है, केवल यह कहना जितना एकागी है, उतना ही अपूर्ण यह कहना भी है कि सौंदर्य सर्वथा मानसिक अवस्था है। इन दोनों के योग में ही सौंदर्य की स्थिति है। अभिव्यक्ति या प्रकाश की जिसे हम पूर्णता कहते हैं, वह प्रकाश भी मात्र वस्तु का ज्ञान या मात्र उसकी प्राकृतिक सत्ता ही नहीं होती, वह पूर्णता दोनों की एक अखड सगति है। उस प्रकाश में विविधता और विचित्रता के सारे भेद एक ऐक्य में गुथ जाते हैं, एकाकार हो जाते हैं। जगत् के आदि कारण विचार में जिस अवश्यम्भावी नियम को प्लेटो ने 'आइडिया' कहा है, उस 'आइडिया' का अर्थ लिया गया है—रीजन्। मूलतया उसका धर्म एक में बहुत्व का समाहार है या यों कहें कि एकत्व में बहुत्व का प्रकाश ही आइडिया है। बहुत्व किसी वस्तु की बाहरी दिशा है और एकत्व है उसकी आतरिक दिशा। इसलिये आइडिया वास्तव में वह है, जिसमें वस्तु अपने रूप और धर्म, अवयव और अवयवी—दोनों की सुसगत समन्विति में प्रकाशित होती है। इस प्रकार भी सौंदर्य के दो मुख्य पहलू साबित होते हैं, बाह्य और मानस—इन दोनों का जहाँ योग होता है, वहीं सुन्दर के दर्शन हो सकते हैं। सौंदर्य वस्तु का स्व गुण भी बहुत समय प्रतीत हो सकता है किंतु आत्मचेतना के सामजस्य से वह श्री कुछ और ही होती है। गुलाब स्वयमेव सुन्दर होता है। किंतु मनुष्य का मुखड़ा हमें उससे अधिक सुन्दर लगता है। अधिक सुन्दर लगता है केवल इसीलिये कि मुखड़े में जो एक जीवत चल चेतना मिली-जुली होती है, वह गुलाब में नहीं होती। वस्तु के बार-बार हृदय में धारण और धारणा से हमें जो अनुभव होता है, उसे हम अपनी विकल्प और बुद्धि-वृत्ति का परिणाम कह सकते हैं और उस अनुभव से हमारा जो मानसी सपर्क होता है, वही आनन्द रूप में प्रतीयमान होता है। किंतु यह आनन्द चूकि वस्तु विशेष में युक्त होकर प्रकाशित होता है, इसलिये उस आधार वस्तु को हम सुन्दर कहते हैं। इस अनुभूति में प्रयोजनसिद्धि की धारणा का खास कोई हाथ नहीं रहता। प्रयोजन का हाथ नहीं होता, इस पर से यह सिद्धात भी नहीं किया जा सकता कि प्रयोजन का सम्बन्ध न रहने से ही कोई वस्तु सुदर होती है। ऐसी अनेक चीजें हैं, जो प्रयोजन के दायरे से भिन्न हैं अथच वे सुन्दर नहीं लगतीं। और, कोई एक फूल हमें सुन्दर लगता है। उसे देखते ही वह हमें आकर्षित करता है। हम समझते हैं कि उससे हमारे किसी उद्देश्य की

सिद्धि हुई है। किन्तु वह उद्देश्य जो क्या है और किस तरह उसकी एकाएक परिपूर्त्ति हो गयी, यह न तो हम जान पाते हैं, न बता सकते हैं।

सौंदर्य-शास्त्र में सौंदर्य और महिमा या गांभीर्यबोध—ब्यूटी और सब्लिमिटी—दो अलग-अलग अर्थबोधक शब्द पाये जाते हैं। किंतु सौंदर्य के समान इस गांभीर्यबोध की भी कोई निश्चित धारणा कर सकना सम्भव नहीं। सौंदर्य और महिमा में एक भेद है; वह भेद क्या है, इस सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं। सौंदर्य की विशेषता है कि वह हमें मुग्ध करता है, लेकिन महिमा की ? महिमा हमें विस्मित करती है। फलतः दोनों में केवल परिमाणगत ही भेद नहीं होता, जातिगत भेद भी होना चाहिये। किंतु रस्किन ने किसी भी रूपमहत्व में गांभीर्यबोध की स्थिति मानी है। उनकी दृष्टि में गांभीर्यबोध उस अनुभूति में है, जो चित्त को उद्ध्वाभिमुखी और उन्नत करती है। ऐसी अनुभूति हमारे चित्त में तभी होती है, जब किसी रूप का महत्व हमें अभिभूत करता है। इस महत्व की कोई खास श्रेणी नहीं होती, वह सुन्दरता, विशालता, जड़-चेतन, बल-वीर्य किसी का भी महत्व हो सकता है। अतएव रस्किन सब प्रकार के सौंदर्य में नहीं, बल्कि महत्व में महिमा मानते हैं। भय की जो भयानकता है, उससे या मृत्यु से बचाव की चेष्टा में महिमा का भाव नहीं है। भय और मृत्यु की गहनता, अपरिमेयता में हृदय पर कल्पना से उसके जिस विराटत्व की छाया पड़ती है, वही छाया हृदय के भाव-संवेग से मिल कर गांभीर्यबोध का कारण बनती है। इस प्रकार महिमा और सौंदर्य में जातिगत भेद नहीं होता, मात्रागत होता है।

आकृतिगत विशालता और संख्या-बहुलता में ही महिमा के भाव हैं, ऐसा भी कई लोगों ने कहा है। जैसे अपार समुद्र, आकाशचुंबी हिमालय, गहनवन, अनंतकाल के भाव। विशालता में, विराटत्व में यह भाव हो सकता हैं या कहें होता है। हिमालय की कठोर तपी-सी ध्यानभग्नता में गांभीर्य बोध है। किन्तु ध्यानी बुद्ध की छोटी-सी मूर्ति में भी अन्तर की जिस ज्ञान-गरिमा, अनंत शक्ति और शान्ति का प्रकाश है, वह क्या गांभीर्यबोध नहीं है ? लेकिन कहाँ आकाश को सिर पर टेके हिमालय और कहाँ बुद्ध की मूर्ति ? तरंगाकुल सागर या असंख्य पेड़ों की गहनता लिये सुदूर प्रसारी कानन में अगर आकारगत विशालता के हिसाब से महिमा मानी जाय तो मेटरलिंक की 'दि लाइफ ऑव दि बी' (मधुमक्खी की जीवन-कहानी) को हम क्या कहेंगे ? उस नन्हें जीव के समग्र-जीवन के रहस्योद्घाटन में जिस विस्मय और आनन्द से अभिभूत हो जाना पड़ता है, उसमें भी गांभीर्यबोध

है। मृत्यु की अनन्तता की कल्पना, उसके सम्मुखीन होने में साहस और वीर्य की असीमता और आकाश की अनंतता में तथा मधुमक्खी के जीवन रहस्य के बोध में जो गंभीरता और महत्व है, दोनों में बाहरी विशालता का जो भेद हो, बोधमहत्व में समानता है। अत महिमाबोध में वस्तुगत (आब्जेक्टिव) पार्थक्य का जो भी महत्व हो आत्मागत (सब्जेक्टिव) प्रभाव का भी अस्तित्व उतना ही बड़ा है। ब्रेडले ने वस्तुगत महिमा को भी स्वीकार किया है। उन्होंने महिमा का लक्षण बताया है—असीम महत्व और विराट भाव का सचार। इस महिमा के स्वरूप ज्ञान के लिये उनका कहना है कि गाम्भीर्यबोध प्रथमत तो हमारे हृदय में एक अजीब वेदना और तुच्छता का भाव भर देता है और दूसरे ही क्षण उस विराट् के सस्पर्श से हमारी तुच्छता तिरोहित हो जाती है और हम भी बृहत् हो उठते हैं।

कैंट ने महिमा के रूपगत और मनोगत—दोनों ही रूप माने हैं, किन्तु उन्होंने उसकी आभ्यतरीण सत्ता पर ही ज्यादा जोर दिया है। उन्होंने महिमाबोध को दो प्रकार का माना है—मैथेमेटिकल सब्लाइम और डिनैमिक सब्लाइम। पहले में वस्तु के विराटत्व की परिमिति होती है, दूसरे में विशालता जन्य जो चित्तविस्फार की स्थिति होती है। हमारे यहाँ चित्त विस्फार की इस स्थिति को अभिनवगुप्त ने चमत्कार कहा है और विश्वनाथ ने उस चमत्कार को 'चित्तविस्तार रूपो विस्मयापर पर्याय'—अर्थात् चित्त विस्तार कहा है, जिसका दूसरा नाम विस्मय है। इस विस्मय का सार मूलत अद्‌भुत् रस है, जैसा कि धर्मदत्त ने कहा है—'तच्चमत्कार सारत्वे सर्वत्राप्यद्‌भुते रस। इस अद्‌भुत को ही बहुत लोग सब्लिमिटी कहते हैं। सब्लिमिटी में चूंकि विस्मय का भाव है, इसलिये उसके मूल अद्‌भुत का प्रकारान्तर से उसमें योग तो माना जा सकता है, किन्तु अद्‌भुत का एकमात्र लक्ष्य विस्मय की उदभावना ही है, सब्लिमिटी में आकार या परिमाणगत जो विशालता अपेक्षित है, वह अद्‌भुत का उपजीव्य सब समय नहीं होता है। इसे बल्कि हम अपने यहाँ के उदात्त भाव का अगीभूत तो किन्हीं अशों में कर सकते हैं। उदात्त वीर रस का ही एक प्रकार होगा, जिसका स्थायी भाव होगा समुन्नति। इसमें वीर रस का स्थायी भाव उत्साह भी समान रूप से मिलित है। अत उल्लास और महत्व—उदात्त भाव में दोनों की स्थिति है, जो महिमा के भाव के द्योतक हैं।

कैंट ने गाम्भीर्यबोध की अनुभूति को बाह्यवस्तु के आधार से जरूर माना है, परन्तु उसमें वे आश्चर्यानुभूति की स्थिति नहीं मानते। वे कहते हैं, एक

ओर तो हम प्राकृतिक महत्व पर उसकी विशालता से अभिभूत होते हैं, दूसरी ओर उसकी तुलना में अपनी तुच्छता और असहायता से क्षुण्ण। अतः गम्भीरता की इस अनुभूति का सम्बन्ध आंतरिक अनुभव से ही है।

हेगेल ने हार में मानवात्मा की विजयाकांक्षा के क्रन्दन को, उसकी मृत्युञ्जयी साधना को महिमा माना है। मृत्युंजयी साधना में महत्व है, नचिकेता की मृत्युमुख में अमृत की अनुसंधित्सा हमें विस्मय का आनन्द देती है, किन्तु पराजय पर आत्मा के रोदन में मार्मिकता तो हो सकती है, महिमा नहीं हो सकती। उससे तो राम जैसे आदर्श स्वरूप के विरुद्ध रावण का युद्धोन्माद अधिक गम्भीर है। स्वर्ग से विताड़ित होने पर भगवान से लोहा लेने के दृढ़ संकल्प मे शैतान महिमामय हो उठता है। अतः आकार की विशालता या विराट्त्व में ही वास्तव में महिमा नहीं है, वह है वस्तु निहित शक्ति में जो एक अलौकिकता है, उसमें। दो पर्वत समान ऊँचे हो सकते हैं, किंतु दोनों की पात्रता एक नहीं हो सकती। अन्य अनेक पर्वतों से हिमालय की ध्यान-गम्भीरता में एक खास बात है। एक सुदूरप्रसारी समतल भूमि से अपार समुद्र के तरंगाकुल विस्तार में प्रभेद है। एक में धीरता और स्थिरता द्वारा सुन्दरता की व्यंजना है, दूसरे में विस्तार और उद्दामता में महिमा के भाव। मनुष्य के गुण और भाव भी महिमामंडित होते हैं। त्याग, तप, धीरता, प्रेम आदि भी जब एक अद्भुत शक्ति और वीर्य की ज्योति में विकीर्ण होते हैं, तो स्वभावतया उसमें महिमा के भाव भर आते हैं। अगणित तारक-शोभित नीलांबर की सीमाहीनता से व्याप्ति और उच्चता के जिस गांभीर्य का हमें बोध होता है, महत् प्रेम, महत् त्याग और महत् क्षमा की भावना में उससे कम गहराई नहीं होती। एक राजकुमार अपना सर्वस्व त्याग कर मानव के मुक्तिमंत्र के लिये तपस्यालीन हो जाता है। भावना की इस उदात्तता में जो महत्ता है, उससे रत्ती भर कम महत्ता इसमें नहीं है कि एक भिखारिन, जिसे लज्जानिवारण के एक चिथड़े के सिवाय सम्पत्ति नाम की कोई चीज ही नहीं है, पेड़ की ओट में अपनी लाज छिपाये वह चिथड़ा भी उतार कर भगवान बुद्ध के लिये भेंट चढ़ा देती है। इतना अवश्य है कि रचनागत महिमा का प्रकाश केवल बृहत् और विशाल, प्रकांड और विपुल की वस्तुता से ही सम्भव नहीं, उसकी प्रकाश-कुशलता पर भी निर्भर करती है। महिमा महत् अन्तर की ही प्रतिध्वनि होती है। कलाकार का अन्तर जितना ही महत् होगा, उतनी ही श्रेष्ठ होगी उसकी रचना। छोटे हृदय से उच्च कला-सृष्टि सम्भव नहीं। जिनकी रचनाओं मे चिरकालिक सौंदर्य और महिमा का

कला का सौंदर्य

सौंदर्य की सत्ता को अस्वीकार करने का अवसर कम आता है, क्योंकि उसके सहज धर्म की प्रतीति होती है। किन्तु यह प्रतीति क्या होती है, कैसे होती है, क्यों होती है और किसमें होती है—बखेड़ा जितना कुछ है, वह इन्हीं बातों के निर्णय में है। इसीसे हम पाते हैं कि जितना मतभेद है, वह सब सौंदर्य के स्वरूप-निरूपण में ही है। सौंदर्य का धर्म जितना सहजगम्य है, स्वरूप उतना ही उलझा हुआ है; उसकी प्रतीति जिस आसानी से हो आती है, उतनी ही कठिन हो उठती है उसकी व्याख्या और विश्लेषण। उसकी समझ और है, समझाना और। सौंदर्य-विमुग्धता के प्रकाश के लिये मात्र एक 'वाह' बहुत है, मगर उसके 'क्या' और 'क्यों' के तो सारे शास्त्र भी अधूरे हैं।

सौंदर्य को मात्र वाह्य वस्तुगुण कहना भी उतनी ही अपूर्ण और एकांगी बात है, जितनी कि उसे केवल एक मानसिक अवस्था या आत्मगत धर्म कहना। वास्तव में सौंदर्य का उदय तो वस्तु और मन के किसी ऐसे संगम पर, किसी एक अज्ञात क्षितिज पर होता है, जिसकी निश्चित सीमारेखा अँगुली से निर्देशित कर सकने का सहज उपाय नहीं है। पिछले दिनों कला-पूजक चीन में यह मान्यता रही थी कि सर्वश्रेष्ठ आनन्द दो ही बातों में है, प्रकृति में या चित्र में। वहीं के ग्यारहवीं सदी के चित्रालोचक कुओशी ने प्राकृतिक सुन्दरता में हृदय-योग की एक विशेष महत्ता मानी और कहा, दृश्यों से जब ध्यान का संयोग अर्थात् वस्तु से जब मन की एकता स्थापित हो जाती है, तो दृश्य की महिमा बढ़ जाती है। यह बात उन्होंने केवल चित्र-चर्चा के लिए ही कही हो, ऐसी बात नहीं। समानरूप से वह काव्य के लिये भी प्रयोज्य है। कुओशी चित्र और काव्य को समानकोटिक मानते थे। उनका मंतव्य था, चित्र और काव्य एक जातीय हैं, फर्क इतना ही है कि एक में आकृति है, दूसरे में वह नहीं है। केवल चीन क्यों, जापान में भी चित्र और काव्य की समकोटिकता के प्रवाद प्रचलित थे। जैसे, शाब्दी-चित्र का नाम काव्य है और अशाब्दी काव्य का नाम चित्र। वहाँ की कला-साधना में बाहर-भीतर के संयोग की भी सचेष्ट चेष्टा रही, वस्तु पर मानसिकता का आरोप ही

परिपूर्णता में अपनी असीमता लिये प्रकाशित होती है, तो वह महान् है। सभी पदार्थों में ससीम और असीम की यह लीला जारी है, इसलिये सभी वस्तु स्थिति विशेष में सुन्दर और महान् है। जैसा कि रवींद्रनाथ कहते हैं, 'सीमार माझे असीम तुमि बाजाओ आपन सुर'—हे असीम, तुम सीमा में अपनी रागिनी बजाते हो। या महादेवी की - मेरी छोटी सीमा में अपना अस्तित्व मिला दो —। इसलिये, केवल वस्तुगत विशालता का आधार ही मूलतया महिमा व्यञ्जक नहीं माना जा सकता, महिमा का निवास भावों की असीम विस्तृति, उदात्त गम्भीरता में है। भावों की उस गहराई और विस्तार को आकृतिगत विशालता के आधार से उपयुक्त अवसर मिलता है।

का। ज्ञान की जानकारी को आंतरिक अनुरूपता की अपेक्षा नहीं रहती। किन्तु जो जानकारी अनुभव की होती है, उसमें वाह्यरूप हमारे अन्तर्निहित रंग-रूप-रस के साँचे के अनुरूप ही होता है। मूलतया अनुभव का अर्थ ही और कुछ के अनुरूप हो उठना है, उसमें रूप की सत्ता आंतरिक साँचे के अनुरूप ही ढलती है। दूसरे शब्दों में कहें तो वह होगा रूप में आत्मबोध। इस आत्मबोध से रूप की सीमा अधिक बढ़ जाती है, सामान्य विशेष हो जाता है। यों देखिये तो सौंदर्य अनेक तथ्यों का एक सुसंगत सामंजस्य है। एक-एक या अलग-अलग उन तथ्यों में न तो कोई सुन्दरता होती है, न असुन्दरता। जैसे एक फूल है। हरियाली के एक वातावरण में फूल कुछ खास रंग और आकार के पंखड़ियों का एक मेल है। सौंदर्य का जो सहज धर्म है, वह मोहकता पंखड़ियों की विच्छिन्नता में नहीं है, वह है उनकी अविच्छिन्न एकता में। अतः विच्छिन्नता के परे उनकी समग्रता का जो एक अखण्ड रूप है, सौंदर्य वही है। इस अखण्डता के परे जो है, वह असुंदर चाहे न हो, सुन्दर तो नहीं है। लेसिंग ने तो सौंदर्य के समान असुंदर या कुत्सित की भी अलग सत्ता मानी है। वे असुन्दर को सुन्दर की उलटी पीठ या विपरीत कहते हैं। विपरीत के मानी यह नहीं कि जो सुन्दर नहीं है, वही असुन्दर है। वे कहते हैं, अंगों की जैसी संगति से सौंदर्य निखरता है, असुन्दर के लिये भी वस्तु के विभिन्न अंगों की कुत्सित के प्रकाश के अनुरूप एक वैसी ही संगति होती है। सौंदर्यानुरूप संगति न होना या मामूली-सी असंगति का होना कुत्सित का कारण नहीं होता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि असुन्दर के प्रकाश में भी एक ऐक्य या अखंडता है, किन्तु उस ऐक्य या अखंडता में मुख्यता उसके फैक्ट्स या तथ्य की होती है, मूल ऐक्य ही वहाँ गौण हो जाता है, इसलिये हमारे अन्तःपुरुष को, व्यक्तित्व को उसमें एक वैसी प्रेरणा या आवेदन नहीं मिलता है जैसी प्रेरणा या जैसा आवेदन कि सौंदर्य की अखण्डता से मिलता है। सौंदर्य की अखण्डता हमारे अन्तस्तल के ऐक्य को छूता है और उस समगोत्रता से हमारा व्यक्तिपुरुष उद्‌बोधित होता है। इसीलिये सौंदर्य की वस्तु का सम्बन्ध हमारे ज्ञान से कम, अनुभूति से अधिक है, उसे पाकर प्रकारांतर से हम अपने को ही पाते हैं। सौंदर्य द्वारा हमें आत्मोपलब्धि होती है, इसीलिये सौंदर्य में हमारा आनन्द भी है। याज्ञवल्क्य ने कहा है,

> न वारे पुत्रस्य कामाय पुत्रः प्रियो भवति।
> आत्मनस्तु कामाय पुत्रः प्रियो भवति।

शिल्प का प्रधान लक्ष्य रहा। कियोतो के एक मन्दिर के प्रांगण में एक उद्यान का चित्र है। उसका चित्री है सोग्रामी। चित्र भी कुछ अजीब है। उद्यान का चित्र है, अथच न तो उसमें कोई लता है, न कोई फूल। कहीं उगी कोई दूब भी नहीं है। एक चरकोने क्षेत्र में केवल रेती की लहरें हैं और एक तरफ को बेतरतीब कुछ चट्टानें पड़ी हैं। चित्र को देख कर उसे उद्यान समझने की कोई गुञ्जाइश नहीं है। लेकिन वह उद्यान ही है। चित्रकार ने उसमें अज्ञात प्राण-शक्ति का संकेत दिया है। उसका आशय संभवतः यही रहा हो कि अन्तःसत्ता का साक्षात्कार केवल बाहरी आँखों से नहीं होता।

वस्तु की भी सुन्दरता होती है, सौंदर्य का वह एक स्तर ही है और सहज स्तर। देखते ही उसकी धारणा हो आती है, क्योंकि उसमें प्रधानता आकृतिगत रूप की, रंग-रेखा की ही होती है, उस पर मर्म के धर्म की परिछांई नहीं पड़ती। निःसीम आकाश की नीलिमा; जिस क्षितिज पर जमीन और आसमान की गलबांही होती है उस पर साँझ सबेरे के चतुर चितेरों की रंग-साजी; फल-फूल की चमकी से सजा हरियाली का आँचल; आकाश तक सिर उठाये पर्वत की तप-तल्लीनता; उजड़े पेड़ों पर उगती कोंपलों के इशारे; पंखों पर इन्द्रधनुष का रंगीन जादू समेटे फूल पर मँड़राती तितली--ये भी बेशक सुन्दर लगते हैं। किन्तु एक मानवी मुखड़े की सुन्दरता में उनसे निस्सन्देह अन्तर है और वह अन्तर सिर्फ मानसिक चेतना के आभास का है। मुखड़े पर मन की गहनता का जीवंत और चंचल सौंदय भी प्रति-भासित होता है। आँखों का स्वाभाविक दर्शन मन के संयोग से विशेष दृष्टि बन जाती है। ध्यानयुक्त आँखों से साधारण दृश्य अलौकिक, रूप अपरूप हो उठता है। मन की माधुरी के मिलने से ही प्रकृति अलौकिक सृष्टि बन कर शिल्प में आत्मप्रकाश करती है। शकुन्तला के रूप वर्णन में कालिदास ने इस अलौकिकता की बड़ी सहज व्याख्या कर दी है। वे कहते हैं, शकुन्तला विधाता की सृष्टि नहीं है, यह तो मानों कवि के ध्यान में आये हुए रूप में प्राणों का संचार किया गया है। यह सृष्टि कवि-चित्त सम्भव ही हो सकती है।

चित्तेनिवेश्य परिकल्पित सत्वयोगात्
रूयोच्चयेन मनसा विधिना कृतानु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति या मे
धातु विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः।

हमारा जानना वास्तव में दो तरह का होता है, ज्ञान का और अनुभव

तो आनन्द उस सीमा की वस्तु है, जहाँ ज्ञान मुक्त हो जाता है। जरूरत और जिम्मेदारी का बोझ ढोना पड़ता है और उसी के लिये हमारे आस-पास तथ्यों की भीड़ लगी है। किन्तु प्रयोजन की इस अनिवार्य दासता का फरमाबरदार होने में हमें कोई आत्मतृप्ति या आनन्द नहीं है। वह दासता हमें करनी पड़ती है, सो विवशतावश हम करते हैं। उस विवशता में आनन्द के शृंगार के लिये हम प्रयोजनों की भीड़ में भी अनुभूति का अवकाश स्वभावतया ढूँढ़ने के आदी हैं और अपनी प्रयोजन-सामग्रियों को भी हम सौंदर्य-समन्वित कर के अनुभूति का आश्रय बनाते हैं। फलस्वरूप प्रयोजन की वस्तु में अपनी विवशता को ही मुख्य न बना कर हम वस्तु को अपनत्व से अपनी बनाने की चेष्टा करते हैं; उसकी रूढ़ वस्तुता को वस्तुता के परे कर देते हैं। यह काम हमारे सौंदर्य-बोध से होता है। हमारी हर जरूरत की चीज प्रयोजन-सिद्धि का ही एकमात्र साधन नहीं रहती, सौंदर्य और आनन्द का भी हेतु बन जाती है। प्रयोजन वस्तु की खण्ड सत्ता को स्वीकार करता है और लोभ से लाभ करता है; आनन्द ऐक्य की उपलब्धि करता है, जिसमें रस की परिणति होती है। एक का लक्ष्य संग्रह है, दूसरे की उपलब्धि। संग्रह का लक्ष्य संग्रह ही होता है, व्यय नहीं। उपलब्धि की कामना प्राप्ति ही नहीं होती, प्रकाश भी होता है। धन का अर्थ भी यदि व्यय करना होता, तो अमितव्ययिता उसके लिये न अन्याय्य गिना जाता न निरर्थक। व्यय से धनी होने का प्रमाण देना वैसा सहज नहीं है, क्योंकि दान की तो कोई सीमा नहीं हो सकती। सामन्यतया जब हम खर्च करते हैं तो पाई-पाई का सावधानता से हिसाब रखते हैं; किन्तु अवसर विशेष में जब व्यय द्वारा अपने आनन्द को व्यक्त करना रहता है, तब हम बेहिसाब खर्च करने में मीन-मेख नहीं करते। क्योंकि वह प्रयोजन की दासता नहीं होती, हमारे अन्तर के अहेतुक आनन्द का प्रकाश होता है। आनन्द के प्रकाश में कृपणता नहीं होती। साहित्य के लिये इसीलिये प्रकाश की अमितव्ययिता पर कोई रोक नहीं। आम लोगों से जब हम व्यवहार करते हैं, तो सांसारिकता से ताल मिला कर चलना जरूरी होता है, लेकिन जिससे हमारे मन का सम्बन्ध है, स्नेह-प्रेम का नाता है, उसके लिये बटखरे पर तौल कर परिमाण का ध्यान नहीं रक्खा जाता है, न ध्यान रखना जरूरी ही होता है। जैसे,

अनियारे दीरघ नयन, किती न तरुणी समान।
वै नैना कछु और हैं, जिहीं बस होत सुजान।

अर्थात् पुत्र को हम इसलिये प्यार नहीं करते कि पुत्र हमें प्यारा है, बल्कि पुत्र हमें इसलिये प्यारा है कि हम अपने आप को प्यार करते हैं। पुत्र में अपनी ही अनुकूलता के दर्शन होते हैं—आत्मा वै जायते पुत्रः। पुत्र अपनी ही आत्मा का अंश है। सौंदर्य-प्रीति के अन्दर भी यह एक सत्य निहित है कि वस्तु विशेष में मन अपनी अनुरूपता पाकर प्रीत हो उठता है और वहाँ वह वस्तु सामान्य न रह कर विशेष हो उठती है। यह सामान्य विशेष कैसे हो उठता है, रवींन्द्र ने एक उदाहरण द्वारा उसे बहुत स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने एक नौकर की मिसाल दी है। दूर-देहात में कहीं थे। उनका एक नौकर मोमिन मियां सुबह गाँव से आता था, दिन-भर काम-काज करके दिन डूबते अपने घर चला जाता था। न उसके रूप था, न खास कोई बुद्धि-विलक्षणता। बहुत ही कम बात करता; इसलिये उसकी स्थिति का पता उसी एक दिन चला, जब वह गैरहाजिर हुआ। सुबह के सब काम ठप रहे। कोई दस बजे जब वह आया, तो कवि ने कड़क कर पूछा—अबे, अबतक कहाँ रहा? उसने धीरे से कहा—कल रात मेरी लड़की मर गयी—और फिर चुपचाप उसी तरह काम करने लगा। कवि ने लिखा है, मेरी छाती धक् से कर उठी। जो एक नौकर के रूप में प्रयोजनीयता के पर्दे से ढँका था, उस पर से वह पर्दा उठ गया; उसे मैंने एक बाप के रूप में देखा और मुझ से उसके स्वरूप का मेल मिल गया—वह प्रत्यक्ष हो उठा, वास्तव हो उठा। सुन्दर के हाथों विधाता ने पासपोर्ट दिया है, उसका सर्वत्र सहज प्रवेश होता है। मगर इस मोमिन मियाँ के लिये क्या कहूँ! सुन्दर तो उसे कहा ही नहीं ज़ा सकता, और एक लड़की का बाप भी तो उस जैसा संसार में अन-गिनत है। यह मामूली-सा तथ्य है, न सुन्दर, न असुन्दर। मगर उस दिन करुणा रस के स्पर्श से वह देहाती आदमी मेरे मानसी मनुष्य से मिल गया, प्रयोजन के दायरे से बाहर कल्पना की भूमिका में वह मोमिन मियाँ मेरे आगे वास्तव हो उठा।

यहाँ कवि ने अनुभूति की वास्तवता का जो रूप दिया है, उससे उसके दो अंग स्पष्ट दीखते हैं। एक तो प्रयोजन-निरपेक्षता और दूसरा कल्पना का संस्पर्श। हमारा आनन्द वहाँ उतना ही प्रबल होता है, जहाँ जितनी प्रबलता से अनुभूति में बाहर-भीतर का ऐक्य स्थापित होता है। फूल जहाँ तथ्य मात्र न होकर अज्ञात ऐक्य का अखण्ड स्वरूप होता है, वहाँ वह सुन्दर होता है, उसी प्रकार तथ्य जब हमारे ज्ञान का विषय न होकर गहरी अनुभूति का अंश-रूप हो उठता है, वहाँ हमारा आनन्द निविड़ हो उठता है। संक्षेप में कहें

तत्व को विशुद्ध तत्व रूप में भी देखना काम्य नहीं होता, उसमें तत्व को विषय या वस्तु में शरीरी बना कर देखना अभीष्ट होता है। तत्व को तो दार्शनिक भी देखते हैं। वस्तु की आत्मा या तत्व की अनुभूति का आधार जो वस्तु हुआ करती है, उसके हिसाब से दोनों की दृष्टि का अपना-अपना प्रकार होता है। दार्शनिक की दृष्टि होती है विश्लेषक जब कि कलाकार की दृष्टि होती है संश्लेषक। दार्शनिक तत्व को विचार-बुद्धि, चिंतन और ध्यान से विश्लेषण द्वारा जानना चाहते हैं और कलाकार उसे केवल जानना नहीं, सृष्टि करना चाहते हैं; इसलिये कलाकार तत्व का व्याख्याता नहीं, स्रष्टा होता है और इसीलिये उसे तत्व के लिये रूप की शरण लेनी पड़ती है। दार्शनिक की तरह वस्तु की आंतरिकता का केवल आविष्कार ही कलाकार का एकमात्र कर्त्तव्य नहीं है; उसकी उस आच्छन्न प्राणवत्ता, उसकी मौलिक नैसर्गिक प्रेरणा को उस वस्तु के आश्रय से ही प्रतिष्ठित करने की दिव्य क्षमता भी कलाकार के लिये अपेक्षित है। अतः उसमें अन्तर्दृष्टि और सृजनक्षम प्रतापी प्रतिभा, समान रूप से दोनों का ही समावेश होना चाहिये। वैदिक भाषा में जिसे सत्य और ऋत कहा गया है—सत्य का दर्शन और सत्य की स्थापना। सोना, उसमें सुगन्ध भी। वस्तु के अन्तरालवर्त्ती अगोचर तत्व का उद्घाटन ही नहीं, उसका मानसगोचर रूप मूर्त्त करना। तात्विकों के आगे उनके अपने चिंताजगत् का ही मूल्य होता है, वस्तु या घटना का स्वतंत्र मोल नहीं होता। कलाकार के लिये सूक्ष्म की महत्ता चाहे जितनी हो, वस्तु या घटना का भी मोल होता है, क्योंकि कला रूपायन है। भाव-जगत् की जो सूक्ष्मता तत्व है, जागतिक स्थूलता ही उस तत्व का विग्रह हुआ करता है। किन्तु कवि के कल्पना-तत्व से वह सामान्य के बजाय विशेष, लौकिक न होकर अलौकिक हो उठता है। इसी अलौकिकता में रस है, आनन्द है।

रात के घूँघट को प्रकाश के हाथों हटा कर सुबह की शोभा को अपनी खिड़की पर उतरते हम-आप सभी देखा करते हैं। उसका मूल्य कवि वाल्ट-व्हिटमैन ने बताया, खिड़की पर उतरनेवाली प्रातः-सुषमा मुझे गहरी चिंतन-तपस्या से प्राप्त दर्शन-तत्व से कहीं अधिक लुभानेवाली और मूल्यवान् मालूम होती है। यह न तो केवल तत्व की बात है, न ही वस्तु की केवल तात्विक दिशा की बात। केवल उतना ही होने से हमें प्रातःकाल से अरुचि और वितृष्णा हो गयी होती। सवेरा रोज होता है, ज्ञान के लिये दुबारा इसे जानने की इच्छा नहीं हो सकती। प्रातःकाल की जो सुषमा होती है, वह

अथवा

ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि
त्यों-त्यों खरी निखरै सी निकाई

अथवा

जनम अवधि हम रूप निहारलूँ, नयन न तिरपित भेल।
लाख-लाख युग हिये-हिये राखलूँ, तउ हिय जुड़न न गेल।

तथ्य की दृष्टि से देखा जाय तो इतनी बड़ी अतिशयोक्ति, ऐसा सफेद झूठ दूसरा नहीं हो सकता, किन्तु सत्य की दृष्टि से यह अतिशयोक्ति नहीं है, बल्कि कहें तो यह कहना होगा कि सत्य के लिये इतना ही अन्तिम नहीं है, और कहा जा सकता था, या यह कहा जा सकता है कि ऐसा न कहा जाता, तो सत्य को उसका रूप देना सम्भव नहीं था।

जितनी वस्तुओं पर ज्ञान के पराक्रम से हमारा आधिपत्य स्थापित होता है, उन सब की मूलतया दो दिशायें हुआ करती हैं। एक उनकी तथ्य की दिशा, दूसरी सत्य की। तथ्य है वस्तु की यथायथता यानी जो वस्तु जैसी है, उसका वैसा ही होना। और, सत्य है वस्तु का सनातन गुण, वह तत्व जिसको आश्रय करके वस्तु की वस्तुता प्रतीयमान होती है। यों भी कहें, वस्तु का जो बाहरी स्थूल विकार है वह है तथ्य और जिन आंतरिक कारणों से इन स्थूल विकारों का अभ्युदय होता है, वह है उसका तत्व। जैसे प्रेम की बात ली जाय। यह एक आंतरिक वृत्ति है, इसी की एक बाहरी दिशा है, इन्द्रियजात या शारीरिक विकार—पुलक, कंपन आदि। फलतः अपने स्थूल विकारों में वस्तु का जो बाह्य रूप है, तत्व उससे सर्वथा परे है जैसे कि देह से आत्मा। अतः वस्तुरूप और तत्वरूप देखने की आँखें एक नहीं हो सकतीं। हम ज्ञान के देवता को सूर्य और तप की शक्ति को अग्नि कहते हैं। ज्ञान और शक्ति की इस आख्या से सूर्य और अग्नि की तथ्यगत एकरूपता हर्गिज नहीं है, यह समता तो उसके तत्व की है। ज्ञान का गुण और सूरज का धर्म एक ही है—प्रकाश। भौतिकता की परिधि में जो स्वरूप सूरज का है, अतींद्रियता के क्षेत्र में वही स्वरूप ज्ञान का है। यही धर्मगत एकता तप और ताप की है, जिससे तप को और अग्नि को एक कहा गया। हो सकता है कोई इसे किसी भाव-विलासी की रूपक-योजना कह बैठें। किन्तु यह कोई बेसिरपैर की उड़ान नहीं है, वैसा होता तो यह भी कहा जा सकता था कि तप सूरज है और ज्ञान अग्नि है। वैसा कहना भी किसी हद तक ठीक तो शायद हो सकता था लेकिन वह कोरी तात्विकता होती। कला में

हमारे चित्त को व्याकुल करके सभी चिंताओं से परे ले जाओ, जैसा कि असीम ले जाता है।* और उसी तरह एक झाड़ी की सघनता को चीर कर आती हुई बुलबुल की तान को सुनकर वर्ड्सवर्थ ने अपनी प्रेयसी से कहा,

सुनो यूजीनिया,

कितनी मार्मिक, कैसी जोरदार आवाज पत्रों की भीड़ में से आ रही है

वह फिर""सुन रही हो?

शाश्वत वासना!

चिरंतन वेदना! †

सत्य अपरूप होता है, अगोचर होता है। कला का यह जो अपरूप का रूपायन है, वह एक बड़ा ही कठिन और दुष्कर कार्य है। यह कार्य कठिन इसलिये होता है कि इसमें रूप और रंग के अतिरिक्त प्रिय-अप्रिय, अच्छी-बुरी को मूर्त करना पड़ता है। सत्य की प्रतिष्ठा बहुतों में उसके प्रतिष्ठित होने से ही हो सकती है। ज्ञान का कार्य इससे कहीं आसान है, क्योंकि उसे केवल प्रमाणित कर देना ही उसका चरम लक्ष्य है। भावों के लिये उसमें जीवन-संचार और फिर उसकी प्रतिष्ठा, ये दो मंजिलें तै करनी पड़ती हैं, जो कि बड़ी कड़ी मंजिलें हैं। अपने तईं तत्व की अनुभूति या अपने ही लिये यदि उसका प्रकाश होता, तो किसी न किसी तरह अभिव्यक्त भर कर लेने से काम चल सकता था। किंतु एक तो अन्य अनेक को अनुभव कराने की बात, वह भी अपना सुख या दुख। ऐसे अपरूप को जब रूप देने की बात आती है, अगोचर को प्रत्यक्ष करने का समय आता है, तो भाषा द्वारा उसकी अनिर्वचनीयता को भरना पड़ता है। भरने की उस आकांक्षा और आयास में जो अतिशयता या अतिरंजना दिखायी पड़ती है, वास्तव में वही उसकी स्वाभाविकता है, वह तिल को ताड़ बनाना नहीं है। भाषा की इस अनिर्वचनीयता को वैसा ही एक स्वाभाविक गुण कहा जा सकता है, जैसा कि स्त्रियों में संकोच और सुंदरता होती है। उसे आभूषण

---

* दाओ साइलेंट फॉर्म, डोस्ट टीज़ अस आउट ऑव थॉट ऐज़ डॉथ इटर्निटी।

† लिसन यूजीनिया,

हाउ थिक् दि बर्स्ट कम्स क्राउडिंग थ्रू दि लीव्स

एगेन—दाउ हीयरेस्ट!

इटर्नल पैसन्!

इटर्नल पेन!

नित्य नयी होती है, उसका आनन्द हर रोज नया ही होता है। जब प्रात का भौगोलिक स्वरूप हमारे सामने आता है, हम ऊब जाते हैं; परन्तु जब उसकी आत्मिक गरिमा सामने आती है, हम आत्मविभोर हो उठते हैं और काव्य या कला में तो उसकी सत्ता और भी उज्ज्वल हो उठती है, क्योंकि उसके भाव में जीवन का संचार हो जाता है।

हाँ, हम सामान्य के विशेष हो जाने की चर्चा कर रहे थे। मनुष्य की दो सत्तायें होती हैं, एक विशेष, दूसरी सामान्य। अपनी विशेष सत्ता में मनुष्य समूह से विच्छिन्न होता है और सामान्य अवस्था में सब जैसा एक। रचना करते समय जब कलाकार की व्यक्तिगत सत्ता में जागरूक सत्य रूप लेता है, तो वह रूप सामान्य की स्थिति को अतिक्रम कर जाता है। एक उदाहरण। संध्या रोज आती है और सब के आगे आती है—यह उसका एक सामान्य धर्म है। किन्तु रवींन्द्र जिस संध्या का एक चित्र देते हैं, वह अपने ढंग की अकेली है, एक ही है। कवि कहते हैं—

आज दिन डूबे संध्या अपनी चिकनी काली लटों में एक जो वह माणिक पहने थी, उसे मैंने धागाहीन अपने गोपन गले के हार में गूंथ लिया। वह एक कवि के भाल पर एक करुण-स्पर्श रखकर चली गयी। प्रभो, तुम्हारी इस अनंत सृष्टि में ऐसी संध्या और कभी नहीं हुई, न और कभी ऐसी संध्या होगी। इसी प्रकार ऐ स्वामी, तुम एक क्षण की अंजलि में भर कर अपने चिरकाल के धन को क्षण में नूतन किये लेते हो।

आज एइ दिनेर शेषे
संध्या ये ओइ माणिक खानि पोरेछिलो चिकन कालो केशे,
गेंथे निलेम तारे
एइ तो आमार बिनि सूतार गोपन गलार हारे।
एकटि केवल करुण परश रेखे गेलो एकटि कविर भाले,
तोमार अनन्त माझे एमन संध्या हयनि कोनो काले
आर हंवेना कभू
एमनि कोरेइ प्रभू
एक निमेषेर पत्रपुटे भरि
चिर कालेर धनटी तोमार क्षणकाले लओ ये नूतन करि।

इसी प्रकार कीट्स ने ग्रीस के मृण्मय पात्र की साधारणता में सौंदर्य की एक अखंड और अलौकिक सत्ता का आभास पाया। उस तुच्छ में कवि को विराट् की अनन्य झाँकी दिखायी दे गयी। कवि ने कहा, ऐ नीरव मूर्त्ति,

के बिना रस की सिद्धि नहीं। इसीलिये वस्तु की सत्यता का परिचय तभी मिलता है, जब रंग-रेखा-स्वर की एक अखंड सुषमा से वह हमारी आनंद-वृत्ति को प्रतीत होती है। रस द्वारा जो एक अभिनव अंतर्दृष्टि फूट उठती है और कवि अनंतजगत् के सत्य को नित्य नवोन्मेष बुद्धि से जो रसमय बना देते हैं, अभिनव गुप्त ने इसको बहुत बढ़िया ढंग से कहा है। वास्तव में कवि की सफलता सत्य को रस के मार्ग से प्रवाहित करने में है। कवि के काव्य में रस की गंगा ही प्रवाहित नहीं होती, उसकी एक-एक लहर में सूर्य-किरण के समान सत्य की दीप्ति उद्भासित होती है।—या व्यापारवती रसवान् रसयितुं काचित् कविनां नवा दृष्टिर्यापरिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।

वस्तु-सत्य की प्रतीति के लिये जैसे रस की भूमिका आवश्यक है, सत्य की अखण्डता, उसकी पूर्णता के लिये उसी प्रकार कल्पना की भूमिका चाहिये। कला में हम जो कुछ भी देखते हैं, वह प्राकृतिक वस्तुओं के समान प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः उसकी उस अप्रत्यक्षता की कमी को दूर करने के लिये हमें कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। कल्पना उसमें सम्पूर्णता का समावेश किये देती है। इस सम्पूर्णता का सही अर्थ होगा, वस्तु को जैसा दिखाना हो, वैसा दिखाना। इसके लिये कल्पना को बहुत सारा काम करना पड़ता है—शून्यता की पूर्ति, बिलगी वस्तुओं का समन्वय, अनावश्यक अंशों का परिहार, अखण्ड एकता में लक्ष्य की प्रतिष्ठा। एक चीनी फनकार तमाशा दिखाता था। एक साथ अनेक छुरे को उसने दूरी और काल के अनुपात की रक्षा करते हुए फेंकना शुरू किया कि शून्य में एक अण्डे की आकृति बनती गयी। अपनी सीमित गति से निश्चित दायरे में उसके हाथ के हल्के इशारे से वे छुरे अण्डा की आकृति बनाते हुए घूमते रहे। अब कोई यदि उसमें से एक छूरे पर अपनी दृष्टि टिकाये, या कोई उस गतिमान छूरों के वृत्त की एक अचल तस्वीर आँक कर दिखाये तो उसकी पूर्णता का बोध नहीं होगा, क्योंकि वह उसका एक आंशिक या खण्ड रूप ही तो है। एक दौड़ते हुए कुत्ते का कोई फोटो उतार ले और उस चित्र में कुत्ते के दो बढ़े हुए पाँव जमीन से ऊपर उठे हुए ही चित्र में आ जायँ, तो वह कुत्ते की गतिमयता का एक जड़ और एकांगी रूप होगा। कल्पना उस एकांगिता को पूर्ण और जड़ता को जीवंत कर सकती है। मनुष्य का मन सागर से भी अगम अथाह होता है और उसी कारण से बड़ा ही सूक्ष्म और गहरा होता है मानव-चरित्र। उसकी अगमता, उसके वैचित्र्य की अभावनीयता, उसकी असंगतियों की अनेकरूपता में ऐक्य दिखाने की साधना कोई खिलवाड़ नहीं है। कला वही

नहीं, शोभा कह सकते हैं; शृङ्गार नहीं, कांति कह सकते हैं। भाषा में इस भाषातीत की स्थापना के लिये, रूप में इस अपरूप की प्रतिष्ठा के लिये कला को चित्र, संगीत, अलंकार आदि का जो सहारा लेना पड़ता है, उसमें अतिशयोक्ति नहीं होती। हमें जब दूर के किसी आदमी तक अपनी आवाज पहुँचानी पड़ती है, तो स्वर का तारतम्य ऊँचा उठाना ही पड़ता है, दूर से किसी को जब कुछ दिखाना पड़ता है तो आकार और रंग की गहराई में गुरुता की आवश्यकता को मान ही लेना पड़ता है। इसलिये कि तब उसका धर्म केवल प्रकाश नहीं होता, बहुतों में उसकी प्रतिष्ठा भी होती है; अन्तर्लोक को केवल बाहर खींच लाना नहीं, बल्कि अनेक की आँखों के आगे, उसके मानस-पटल की भाव-भूमि पर बिठाना भी होता है। इसीलिये दुःख-प्रकाश के रोने और दुःख-प्रदर्शन के रोने में आकाश-पाताल का अन्तर होता है। अपने दुःख का प्रकाश दो आँसू और एक मौन उदासी में हो सकता है; किंतु दूसरों में उस शोक की प्रतिष्ठा के लिये जार-बेजार रोने की जरूरत है। पुत्र-शोक में माता के फूट-फूट कर रोने में इसीलिये कृत्रिमता नहीं कही जा सकती। वह अपने उस शोक को औरों में व्याप्त करने के लिये ही घर के अन्दर सिसकियाँ नहीं भरती, आसमान सिर पर उठा लेती है। यह धर्म केवल दुःख-शोक का ही नहीं होता है, हमारे प्रत्येक भाव का यही स्वभाव होता है। भावों के दो पहलू होते हैं—वह अपने लिये भी होता है, औरों के लिये भी होता है। इसी सत्य-प्रतिष्ठा के आग्रह से आवश्यकता के अन्तर्गत ही भाषा की अतिशयोक्ति आ जाती है। साहित्य की सीमा में पत्थर गलने लगते हैं, पेड़ पत्तों के आँसू बहाते हैं, मुख के कमल पर आँख का भौंरा बैठ जाता है; मन की पिपासा आँखों को विहग बना कर उड़ा देती है, काच पसीजने लगता है, आदि-आदि। देखने में तो यह भाषा की असाधारणता ही दीखती है, लेकिन असाधारण की अभिव्यक्ति के लिये इसके सिवाय दूसरा चारा भी नहीं। भाषा के एक-एक शब्द का अर्थ अभिधान ने निश्चित कर दिया है, उस निश्चित अर्थ में सीमित तथ्य तो समा जाता है, किंतु जब उन्हीं के द्वारा सत्य की असीमता को ज्ञापित करना होता है तो उन्हीं शब्दों की तोड़-मरोड़, आंक-बाँक से नये अर्थों की उद्भावना करनी पड़ती है, जिनसे सीमा में असीमता का प्रकाश संभव हो सके। कला में वस्तु की सत्यता रस की भूमिका में प्रमाणित होती है, इसलिये सत्य की रूपमयता अनिवार्य है। रूप में रस अवश्य होता है, लेकिन सभी रस में रूप भी हो, ऐसा नहीं होता। सौंदर्य के रस से अन्य रसों की संगति हमारी अनुभूति में होती है, अनुभूति

जिस मुख की रचना में विधाता ने इतना अधिक ध्यान दिया, उसके महत्व का क्या कहना! उन्हें देख कर आँखें अनिमेष हों तो ताज्जुब क्या? किन्तु जिस मुख में सम्भवतः विधि-राजमिस्त्री ने हाथ भी नहीं लगाया, उनके कारखाने के किसी एपरेंटिस मजूरे ने ही अपनी कची अकल और अपटु हाथ आजमाये, उस अनगढ़ खिलौने में भी असुन्दरता की निरर्थकता कला की आँखें नहीं देखतीं। एक ऐसी ही आवनूस के कुन्दे-सी कालो-कलूटी लड़की पर रवीन्द्र की एक कविता है। वह कविता है—

कृष्णकलि आमि तारेइ वलि
कालो तारे वले गाँयेर लोक।
मेघला दिने देखेछिलाम माठे
कालो मेयेर कालो हरिण चोख।

घोमटा माथाय छिलोना तार मोटे
मुक्तवेणी पीठेर परे लोटे
कालो! ता से यतइ कालो होक
देखेछि तार कालो हरिण चोख।

यानी उस काली-कलूटी लड़की को, जिसको कि तमाम गाँव काली कहता है, मैं कृष्णकली कहता हूँ। एक बदली के दिन खेतों में उसकी कजरारी हिरनी की आँखें मैंने देखी थी। माथे पर नाम को भी घूँघट नहीं था, मुक्त वेणी पीठ पर लोट रही थी। सो वह काली चाहे जितनी हो, मैंने उस काली लड़की के कजरारे मृगनैन देखे हैं!

यह तो खैर रूप की बात हुई। द्वेष, दंभ, दुःख, वेदना, शोक भी कला के क्षेत्र में रस या आनन्द के हेतु होते हैं। राम वनवास, सीता हरण, दशरथ की मृत्यु, दुष्यंत द्वारा शकुन्तला का प्रत्याख्यान—ये बातें जागतिक व्यापार में दुःखजनक हैं, किन्तु हम देखते हैं कि शुरू से आजतक इनपर जानें कितने काव्य-नाटक लिखे गये और लिखे जाते हैं और जिस प्रेरणा से वे लिखे जाते हैं, उसी उत्साह और आग्रह से वे पढ़े भी जाते हैं। इससे स्वभावतया यह प्रश्न उठता है कि आखिर यह दुःख-वेदना आनन्द रूप में क्यों कर परिवर्त्तित होते हैं? भय और अद्भुत की परिणति आनन्दजनक रस में किस प्रकार हो जाती है कि हम उन घटनाओं के वर्णन पढ़ते नहीं अघाते, जो दैनंदिन जीवन में हमारे लिये दुःख-शोक के कारण हैं। शोक से विलाप करती हुई स्त्री या माता को देख हम आँसू नहीं रोक पाते, किन्तु रति-विलाप या साहित्य की माता के करुण-क्रंदन से हमें करुणा के बजाय आनन्द क्यों

कठिन कार्य करती है। सम्पूर्णता के इस सौंदर्य का दर्शन कराने के लिये उसके हाथों कल्पना का अनन्य आलोकदीप रहता है।

कला केवल गोचर-अगोचर सत्य के बीच कल्पना द्वारा दुर्लभ समन्वय का एक सेतु ही नहीं बनाती, उस सम्पूर्णता के रस-रूपमय आनन्द को हृदयों में व्याप्त भी कराती है— कला के सौंदर्य की यह एक विशिष्टता है। लौकिक जगत् में ऐसी अनेक बातें हैं, ऐसे अनेक भाव हैं, ऐसे अनेक रूप हैं, ऐसे अनेक आचार हैं, जो कुत्सित हैं, अप्रिय हैं, असुन्दर हैं; किन्तु वही जब कलागत होकर काव्य या चित्र में सामने आते हैं, तो सुन्दर और आनन्ददायक प्रतीत होते हैं। विक्तर यूगो के एक उपन्यास का नायक कुबड़ा है, एक उपन्यास का नायक चोर; 'प्रसाद' की एक कहानी एक गुंडा पर आधारित है, गोर्की की प्रत्येक रचना का पात्र प्रायः निम्न स्तर के लोग, कुरूप और दुराचारी हैं; कला में नीति के अन्यतम पृष्ठपोषक टॉल्सटॉय के प्रख्यात उपन्यास में 'अन्ना कैरेनिना' स्वैराचारिणी है; मोपासां और ऑस्करवाइल्ड की रचनाओं में तो पात्रों में से बहुतों को तीव्र वासना और अनाचार की बू मिलती है। लेकिन साहित्य की सीमा में उनका मूल्य-महत्व पात्रता की दृष्टि से रत्ती भर भी कम नहीं है। सभी वस्तुओं को स्वधर्मी बनाने की जैसी योग्यता अग्नि में है, सभी वस्तुओं को रूप और रस में एकाकार कर लेने की वैसी ही योग्यता कला में है। कला के जादू की लकड़ी चरित्र की चाहे जैसी भी पात्रता पर एक बार फिर जाती है, उसमें फिर चारित्रिक कुत्सा या ग्लानि नहीं रह जाती, क्योंकि भौतिक कुरूपताओं की पृष्ठभूमि पर के उन चरित्रों में मनुष्यत्व की स्थापना की जाती है और वह सुंदर और आनन्दमय हो उठता है। इस कल्पना में उस अपूर्वता का चमत्कार भी होता है, जिसे दूर की कौड़ी कहते हैं और वह अपूर्वता भी होती हैं, जो अति साधारण है अथच अन्तराल में है। एक कवि ने दमयन्ती के मुख की प्रशंसा की—

हितसारमिवेन्दु मण्डलं
दमयन्ती वदनार वेधसा।
द्रुत मध्यविलं विलोक्यते
धृत गम्भीर खनिखनीलिम।

अर्थात् दमयन्ती के मुखमण्डल-निर्माण के लिये विधाता ने चन्द्रमा के कुछ अंश का हरण किया था, उसीसे चाँद के बीच नभ-नील गहराई देखी जाती है। नभनील गहराई कह कर कवि ने गहराई की गुरुता बतायी है यानी इतनी गहराई है कि आलोक उस पर नहीं पड़ता, उस पार का आकाश दिखायी पड़ता है।

वैसे चित्र हमें हर्गिज नहीं रुचते : मूर्त्ति और चित्र में रंग-रेखा से अंकित वैसे रूप-भाव हमें आनंद के बजाय विरक्ति देते। ऐसी दुःखात्मक अनुभूतियाँ व्यावहारिक जगत् में निवृत्तिमूलक ही हुआ करती हैं। पुत्र-शोक से जार-बेजार रोने वाली पागल माता, पति द्वारा प्रताड़ित शोक-संतप्त पत्नी, पीड़ा जर्जर जीवन, त्रास और त्रास फैलाने वाला विध्वंसकारी प्रताप—ये किसी को भी कैसे रुच सकते हैं ! किंतु कला में हम यही पाते हैं। कला की दुनिया में प्राणोपम प्यारे पुत्र रोहिताश्व के शव के पास तड़पती हुई शैव्या, पति द्वारा गहन-वन में निर्वासित विलाप करती हुई सीता, शक्ति-शेल से मूर्च्छित मरणासन्न लक्ष्मण के सिरहाने शोक-विक्षिप्त राम और अनाचार तथा हाहाकार फैलाने वाला प्रचंड पराक्रमी रावण—हमें यह सब कुछ अच्छा ही लगता है, हम इन्हें चाव से देखते-सुनते हैं, देखने-सुनने की इच्छा रखते हैं। सुखात्मक जैसी ये अनुभूतियाँ भी कला-जगत् में प्रवृत्ति-मूलक हो उठती हैं, इनमें हमारा चित्त रमता है। विश्वनाथ ने स्पष्ट ही कहा है, करुण, वीभत्स, भयानक में भी सहृदय को सुखानुभव ही होता है, उसमें यदि नेक भी दुःख होता, तो न तो कोई रसास्वाद को उन्मुख होता, न रामायण आदि सुनने को व्याकुल।*

लेकिन ऐसा क्यों होता है, कैसे संभव होता है, यह एक प्रश्न है जिसका उत्तर कि अपने-अपने ढंग से समय-समय पर विभिन्न विद्वान् देते रहे हैं और सर्वसामान्य सत्य तक पहुँचने की परंपरागत चेष्टा होती रही है। इसके निराकरण में उलझनों के जिस जटिल जाल की सृष्टि हुई है, उसके विस्तार में जाना हमारा अभीष्ट नहीं है। हम निष्कर्ष के लिये आवश्यक बातों का ही उल्लेख यहाँ करेंगे।

पाश्चात्य देशों में दुःखान्त नाटकों (ट्रेजिडी) की चर्चा में इस गुत्थी को सुलझाने का प्रयास विचारकों ने किया है—ट्रेजिडी से हम प्रीत क्यों होते हैं—व्हाइ वी इनजॉय इट ! ट्रेजिडी की बुनियाद ही दुःख-शोक है। कहते हैं, डायोनिसस के मृत्यु शोक को आधारभूत बनाकर ट्रेजिडी की उत्पत्ति हुई। वह वत्सर, शस्य या प्राण-देवता के प्रतीक माने जाते हैं, जैसा कि ओरिसिस

---

* करुणादावपि रसे जायते यत् परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणम् तत्र केवलम्॥
किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः।
तथा रामायणादीनां भविता दुःख हेतुता॥

मिलता है ? क्यों कवि ने अमर वेदना को सकल सुखों का मीठा सार कहा है; † शेली ने करुणा के गीतों को सर्वोपरि मीठा संगीत कहा है; * शेक्सपियर ने सुंदरी के आँसू को उसकी मुस्कान से बढ़कर मधुर माना है; § प्रेम की वेदना को मधुर सौंदर्य माना है।

शायद आप कहें, वास्तव में दुःख सुख का विपरीत है, आनन्द का नहीं। आनन्द से उसकी कहीं विरोधिता नहीं है, वह उसीका अनुगत है। सुख-दुःख दोनों को जन्म देने वाली जननी एक ही है—वेदना। सुख हम उसे कहते हैं, जिसमें वेदना अनुकूल होती है और दुःख उसको, जिसमें वेदना प्रतिकूल होती है। सौंदर्य और कला की माता भी बहुत लोगों के मत से वेदना ही है और इसके प्रमाण में वे आदि श्लोक के उद्भव की कहानी कहते हैं या भवभूति का वह श्लोक सुनाते हैं, जिसमें कवि ने करुण को ही एकमात्र मूलरस माना है। सृष्टि एक वेदना-तपस्या है, जो तपस्या कि एक फूल को फल के लिये करनी पड़ती है, एक माता को संतान के लिये करनी पड़ती है। वेदना की ताईद में आदि-इत्यादि बहुत कहे जा सकते हैं। किन्तु साधारणतया दुःख, शोक, करुणा हमारे लिये दुखद ही होते हैं, काम्य नहीं। काव्य में या तो उसकी हम कामना करते हैं या उसे पाते हैं तो दुखी-शोकित होने के बजाय प्रीत होते हैं—यह क्यों ? कौन-सा ऐसा व्यापार है, कौन-सी ऐसी प्रक्रिया कला में होती है कि उसकी दुनिया में दुःख-सुख, आनन्द-शोक एकाकार होता है, जैसा कि भवभूति कहते हैं—

> अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु य—
> द्विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्न हार्यो रसः
> कालेन वरणात्यात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
> भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते।

प्रत्यक्ष जगत् में जो बातें, भाव या घटनायें हमारे लिये दुःख-शोक, भय-क्रोध, घृणा-द्वेष का कारण होती हैं, उन्हीं से हम प्रीत होते हैं, जब वे कला के माध्यम से आती हैं। यह एक निर्विवाद सत्य है, इसलिये कि ऐसा ही होता है। ऐसा नहीं होता तो नाट्य-प्रदर्शित और काव्य-वर्णित वैसे दृश्य,

---

† अमर वेदना ही हो मेरे सकल सुखों का मीठा सार।—द्विज

* आवर सिन्सियरेस्ट लाफ्टर विथ् सम पेन इज़ फ्राट
आवर स्वीटेस्ट सॉंग्स आर दोज़, दैट टेल ऑव सैडेस्ट थॉट।

§ ब्यूटीज़ टीयर्स आर लवलियर दैन हर स्माइल्स।

अनुकृति की कला कहा है—आइडियलाइजिंग इमिटेशन ऑव आर्ट। अतः कलाकृति में वस्तु में रस, भाव और क्रिया की भी योजना हो जाती है।

दार्शनिक नीत्शे ने ट्रेजिडी से पारमार्थिक सांत्वना पाने की बात कही है और उसे यथार्थ जगत् का आध्यात्मिक परिपूरक कहा है।† ट्रेजिडी का स्वरूप बताते हुए उन्होंने डायोनिसस और अपोलो का हवाला देते हुए कहा है कि ट्रेजिडी ने इन दोनों से दो तत्व अंगीकार किये—एक से दुःख और दूसरे से दुःख पर विजय पाने की आकांक्षा। नीत्शे ने मनुष्य की एक प्रवृत्ति-विशेष का भी उल्लेख किया है—सीक्रेट इंसटिंक्ट फॉर ऐनिहिलेशन यानी गोपन व्यक्ति-विनाशन प्रवृत्ति। अर्थात् यह कहें कि ट्रेजिडी से अपनी तुच्छ सत्ता का अनन्त में विलय की जो स्थिति आती है, उसी से हमें आनन्द मिलता है। इसका प्रकारांतर से अर्थ हुआ, आत्मबोध की वह स्थिति, जिसे उपनिषद में अनन्तम् कहा गया है। 'मैं हूं' अपनी इस स्थिति का प्रमाण इसीलिये है कि और सब कुछ भी है। अनन्त में प्रसारित करके आत्मोपलब्धि—यह एक मनुष्य का स्वभाव है। डिक्सन ने जब वेदना को ही आनन्द का रूपांतर कहते हुए यह कहा है कि चूंकि हम अपने ही लिये रोते हैं, इसलिये उस रोने में हमें आनन्द मिलता है, तो इस आत्मोपलब्धि का ही संकेत मिलता है। डिक्सन ने अरस्तू के समान ट्रेजिडी से ज्ञान का आनन्द माना है, साथ ही आत्मविस्तार (अखिल में आत्मोपलब्धि) के भी आनन्द को माना है, जैसा कि गोपन व्यक्ति विनाशन प्रवृत्ति में नीत्शे ने कबूल किया है। थार्नडाइक ने सुख और विजय तथा शोक और दुःख को समान सुखदायक बताते हुए आनन्द का विश्लेषण किया है। आनन्द की उन्होंने चार दिशायें मानी हैं—भावमुक्ति, अहमिका की चरितार्थता और सहानुभूति जन्य आत्माभिस्पन्दन; कलात्मक आनन्द तथा व्यापक विस्तार का विस्मित उल्लास। भावमुक्ति से ऐसा समझा जा सकता है कि इमोशन की लौकिकता का रस-दशा में पहुँचने का संकेत हो। भाव या इमोशन वास्तव में रस नहीं है और जिससे वह भाव या इमोशन उत्पन्न होता है, वह भी वस्तुतः कला नहीं है। जैसे, शोक। यह शोक एक मानसिक भाव या इमोशन है। वास्तविक जगत् में बाहरी कारणों से इसकी उत्पत्ति होती है और मनुष्य का चित्त संतप्त होता है। किंतु संतप्त हृदय की जो यह एक वृत्ति है, वह शोक रस नहीं है। यही शोक जब कला की अपूर्व क्षमता से अलौकिक चित्र उपस्थित करता है, तो

† बर्थ ऑव ट्रेजिडी।

हैं। ओरिसिस को शत्रुओं ने बेरहमी से मार डाला था और उनके टुकड़े-टुकड़े करके तमाम उन टुकड़ों को छींट दिया था। कहा जाता है, आगामी एक वसंत में ओरिसिस के वे टुकड़े शस्य होकर उग आये।

ट्रेजिडी का मुख्य उपजीव्य शोक है, दुःख-वेदना के ही उपादान उसकी रचना में काम आते हैं। उसके स्वरूप-विवेचन में अरस्तू ने करुणा और भय को उसका अनिवार्य अंग माना है। दार्शनिक हेगेल और आलोचक ब्रैडले ने केवल दुःख के चित्र या दुःखभोग तथा भाग्य-विपर्यय को ही उसका सर्वस्व नहीं माना है, बल्कि कहा है, नाटकीय द्वंद्व में दुःख की चरम परिणति ही करुण है।† आनंद को अरस्तू अनुकरणजन्य और ज्ञानजन्य मानते हैं। 'माइमेसिस' अर्थात् अनुकरण देखने से ही लोगों को खुशी होती है। उस अनुकरण के साथ एक और व्यापार जुड़ा होता है, वह है ज्ञान। कुछ जानने के आनंद से बढ़कर दूसरा और आनंद नहीं होता। ट्रेजिडी से हमें आनंद इसीलिये होता है, क्योंकि हम उसमें भौतिक जगत् के दुःखात्मक भावों का अनुकृत रूप देखते हैं और उससे हमें एक जानकारी भी होती है। इसी अनुकरण और ज्ञान के कारण शिल्पगत दुःख-वेदना आनंददायिनी होती है।

अरस्तू के इस माइमेसिस, इमिटेशन यानी अनुकरण पर नये सिरे से आलोचना की अपेक्षा नहीं, पिछले अध्यायों में प्रसंगवश उसकी विवेचना की जा चुकी है। कलागत अनुकरण की जब चर्चा आती है, तो स्वभावतया उसका अर्थ वस्तु का अनुरूप ग्रहण ही नहीं होता—उसकी एक सृष्टि भी सामने आती है। अतः उसका आशय हो जाता है प्रकृत भावानुयायी सृष्टि। सृष्टि का जहाँ सवाल उठ आता है, वहाँ मानसिकता के कर्तृत्व की आप ही आप गुञ्जाइश हो जाती है और तब वह अनुकरण उभयमुखी हो जाता है—भावानुरूपता से सदृशीकरण और सर्जना के लिये हृदययोग से नवीनता का समावेश। कारयित्री या भावयित्री—सृजन और संग्रहण—दोनों ही दशाओं में वस्तु व्यक्तिबोध से संयुक्त होती है। क्रोचे ने इसीलिये प्रकृति को मात्र एक चित्तावस्था, एक प्रकार का ज्ञान माना है और उसकी भावांगमय

---

† कोई-कोई ट्रैजिडी शब्द का जन्म 'ट्रैगोस' शब्द से मानते हैं। ट्रैगोस के मानी है—छाग। शायद इसीलिये कि उसका अभिनय या तो छाग-चर्म पहनकर किया जाता होगा या वैसे उत्सव पर, जब कि छाग-बलि होती होगी।

लक्ष्य रहता है, ज्ञाता गौण। अतः ज्ञान के लिये मुख्य है वस्तु या विषय। और, भाव में चूंकि हम अपने को ही जानते हैं इसलिये वस्तु लक्ष्य नहीं, बल्कि उपलक्ष्य मात्र होती है। शिल्प-साहित्य का सत्य यही आत्मोपलब्धि है, उसके द्वारा हमारी आनन्दमय सत्ता उद्बोधित होती है और बोधमय सहज आनन्द से अन्तर्लोक उद्भासित होता है। आनन्द की इस भूमि में वैयक्तिकता या जागतिक, जीवनगत खंडता नहीं रहती, इसीलिये दुःख, भय, वेदना भी दुःखमूलक नहीं रह जाती। वस्तु या भाव की यह रसता प्राप्ति है। द्रष्टा या पाठक के हृदय में लौकिक भावों की जो वासना या वृत्ति है उसकी रसता का परिणाम यह होता है कि रस का जो मानसिक उपादान दुःखमय भाव होता है, रस होकर वह नित्य नया आनन्ददायी हो जाता है।†

रस आनन्द का ही जनक है और वह आनन्द भी आत्मोपलब्धि का ही आनन्द है। मनोवैज्ञानिकों ने संज्ञान, असंज्ञान और निर्ज्ञान आदि के विचार से रस की व्याख्या में इसी बात की पुष्टि की है। प्राचीन आलंकारिकों के आगे मानव मनोवृत्ति की सूक्ष्मता, गति, प्रकृति आदि के निर्णय की आज जैसी वैज्ञानिक परीक्षण पद्धति अवश्य नहीं थी, परन्तु उन्होंने रस-मीमांसा में चित्तवृत्तियों के गंभीर विश्लेषण की अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया है। इस दिशा में पिछले दिनों वे जिस निष्कर्ष पर पहुँचे, वह निष्कर्ष आधुनिक मनोविज्ञान की प्राप्ति से दूर नहीं है। रस-विवेचन की अपने यहाँ एक लम्बी परंपरा है। उस विस्तार में जाना हमारा अभीष्ट नहीं, किन्तु उस रस-भूमि के परिचय के लिये, जहाँ दुःख-वेदना भी नित्य आनन्द में बदल जाती है, संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है। रस के आदि आचार्य भरत हैं। उन्होंने केवल इतना ही कहा है कि विभाव, अनुभाव, स्थायिभाव और संचारीभाव—इन्हीं के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। यह निष्पत्ति वास्तव में है क्या अथवा वह होती कैसे है, सम्यक् रूप से इसका विवेचन भरत ने नहीं किया है। उन्होंने रस का मूल सूत्र भर कह कर छोड़ दिया है। परवर्ती युग में इसका विश्लेषण अपने-अपने ढंग से चार व्याख्याताओं ने किया—भट्टलोल्लट (उत्पत्तिवाद), भट्टशंकुक (अनुमितिवाद),

---

† हेतुत्वं शोक हर्षादिर्गतेभ्यो लोक संश्रयात्।
शोक हर्षादयोलोके जायन्तां नाम लौकिका॥
अलौकिक विभावत्वं प्राप्तेभ्यो काव्य संश्रयात्।
सुखं संजायते तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः॥

भावमुक्त होकर वह करुण रस में बदल जाता है। कलागत शोक के प्रभाव से हो सकता है कि आँखों में आँसू भी भर आये, किन्तु मन को उससे अपूर्व आनन्द आता है। इसे हम रस की स्थिति में विशेष रूप से जानने की चेष्टा करेंगे। थार्नडाइक ने दूसरी दिशा जो आनन्द की बताई है, वह है अहमिका की चरितार्थता, सहानुभूतिजन्य आत्माभिस्पंदन—हम उसे वह व्यक्ति-सत्ताबोध कहें, जिसकी अनुरूपता से ही हमें आनन्द मिलता है। आत्मोपलब्धि की बात भी, जिसे हम ऊपर कह आये हैं, थार्नडाइक ने आत्मविस्तार के रूप में कही है। रस यथार्थतया हृदयबोध है, उस हृदयबोध का स्वरूप है कि उसके द्वारा वास्तव में हम अपने को ही जानते हैं। इस आत्मोपलब्धि में हमारा वास्तविक आनन्द भी निहित है। शायद आप यह पूछें, जो जानना दुःखगत है, उस ज्ञान से आनन्द का कौन-सा तुक बैठता है? लौकिक जगत् में जो बातें हमें दुःख दे जाती हैं, वे इसलिये दुःखदायी होती हैं, इसलिये हम उन्हें निवृत्ति-मूलक मानते हैं क्योंकि उनसे हमारी उन दो जबर्दस्त प्रवृत्तियों पर चोट लगती हैं जिन्हें हम आत्मरक्षा और स्वार्थरक्षा की प्रवृति कहते हैं। कला का सम्बन्ध चूंकि उसके वस्तुगत पहलू से न होकर भाव-रूप से होता है, इसीलिये एक तो उससे स्वार्थ हानि की आशंका नहीं रहती, दूसरे मन में ऐसी कोई एक गोपन प्रवृत्ति भी अवश्य होती है, जो रहस्य के दुर्गम हृदय में किसी अमृत के सिंचन से हमें आत्मोपलब्धि का आनन्द देती है। ऐसा नहीं होता तो स्वेच्छा से समारोह करके एवरेस्ट की दुर्गम चोटी तक जाने के लिए मृत्यु का आवाहन इतने-इतने लोग क्यों करते, क्यों मेरुओं की हिम-शय्या के मौन आह्वान पर इतने प्राणों की स्वेच्छा से बलि चढ़ती? ज्ञान की एक किरण के अतिरिक्त मृत्यु के इस भयंकर आलिंगन में और तो किसी अनमोल निधि की प्राप्ति की आशा नहीं। किन्तु उसी असाधारण भय, विपत्ति और मृत्यु की गलबाहीं में अपने को जानने का एक अतुलनीय आनन्द है, उस आनन्द के लिये भय भय नहीं, मृत्यु मृत्यु नहीं। यह मृत्यु, यह भय एक शून्यता ही तो है, आनन्द उसकी उस शून्यता का अन्तिम अथवा पूर्णता का बिन्दु है। शास्त्र में उस पूर्ण व्यक्तित्व को, उस पुरुष को वेदना से ही जानने को कहा है। वेदना से आशय है, हार्दिकता से, हृदयबोध से। हृदयबोध या उपलब्धि वास्तव में भावमय होती है, दूसरे शब्दों में कहें तो कहेंगे प्रत्यक्ष बोधमय होती है। उस उपलब्धि की जन्म-भूमि विशुद्ध विज्ञानमय और आनन्दमय सत्ता है। ज्ञान और आनन्द की इस दृष्टि में थोड़ा-सा अन्तर है। वह अन्तर है कि ज्ञान के लिये ज्ञेय ही

के समाधन पर ही है। मानने को हम दोनों की अलग-अलग सत्ता मान तो सकते हैं, पर दोनों का किसी बिंदु पर एक सम्बन्ध भी स्वीकार कर ही लेना पड़ता है। शोभामय दृश्य, सागर का तरंग-संकुल विस्तार, आकाश की सीमाहीन नीलिमा, पर्वत की तन-गम्भीरता, दूर-दूर तक फैली मरुभूमि की उदासी, गहनवन की निर्जन हरीतिमा—इनका मानवमन पर अनिवार्य प्रभाव पड़ता है और ये भाव के कारण होते हैं। रसानुभूति के वैसे ही कारण होते हैं विभाव। विभाव का अर्थ ही है कारण। विभाव की परिभाषा है—लौकिक जगत् में जो रति आदि भावों के उद्भावक है, काव्य या नाटक में उसी को 'विभाव' कहते हैं।* कार्य की प्रकृति से विभाव दो होते हैं—आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन का अर्थ ही है विषय, जिसके सहारे चित्त में किसी तरह की वृत्ति या विकार होता है। उद्दीपन विभाव उस चित्र वृत्ति का उद्दीपक होता है। उससे अस्फुट वृत्ति स्फुट, सुप्त वृत्ति पूर्णतया जाग्रत होती है। आलम्बन विभाव कारण है तो उद्दीपन सहकारी कारण (ऑक्जिलरी कॉज़) है।

अनुभाव का व्युत्पत्तिगत अर्थ ही होता है पश्चात् भाविता। भाव या वृत्ति का यह अनुभावी होता है। यथा क्रोध और शोक—ये दो भाव हैं। आँख का लाल होना या आँसू आना, यह जो बाद का विकार है, वह हुआ अनुभाव। आलंकारिक कहते हैं, मन में भाव के उदय होने पर जिन स्वाभाविक विकारों या उपायों से यह बाहर प्रकाशित होता है, भाव रूप कारण के वे लौकिक कार्य काव्य-नाटक के अनुभाव हैं।† बूचर ने भी अनुभावों को कार्य के अन्तर्गत माना है—उनसे मानसिक जीवन का प्रकाश होता है। फलतः रस अपने ही आनन्दमय संवित का एक आस्वाद रूप व्यापार है, क्योंकि मन के रति प्रभृति स्थायीभाव भावों की वासना से अनुरंजित होकर रसावस्था को प्राप्त होते हैं।

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम् ॥

अभिनवगुप्त ने विभाव अनुभाव को 'हृदय संवादेन' कहा है और मम्मट ने उसे कहा है—सकल हृदय संवाद भाजा। अभिनव का आशय होता

---

* रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययो।

† उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्,
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्य नाट्ययोः ॥

भट्टनायक (भुक्तिवाद) और अभिनवगुप्त (अभिव्यक्तिवाद)।

रस मूलतया एक मानसिक स्थिति है, वह वास्तव में विषयगत नहीं, विषयी गत होता है, क्योंकि उसकी स्थिति या प्रतीति हृदय में होती है। रस के साथ यह लाचारी है कि उसे अभिधाशक्ति (फंक्शन ऑव डिनोटेशन) से प्रकाश करना संभव नहीं। रस वाच्य नहीं होता। घोड़ा कहने से एक प्राणि विशेष की हमें धारणा होती है, उसी तरह हास्य, शृंगार या करुणा कहने से ही यदि उस-उस रस की प्रतीति संभव होती, तो वह वाच्य हो सकता था। केवल वाह-वाह, आह-हाय के बार-बार प्रयोग से भी रसोद्भव नहीं होता। हास्य, करुणा या शृंगार के लिये एक तो चाहिये उपयुक्त सामग्री, दूसरी उसकी सफल अभिव्यंजना। इन दो के संतुलित समन्वय से ही रस की उदभावना हो सकती है। इन दोनों में दो तरह की सामग्रियाँ हैं, एक बाहरी उपादान, दूसरी मानसिक। कैंट ने ज्ञान की उत्पत्ति के ऐसे ही दो उपादान माने हैं—आन्तरिक और वाह्यिक। वाह्यवस्तुएँ इन्द्रियों के प्रवेश-पथ से मन में पहुँचती हैं। उनका मन में प्रवेश कर जाना ही ज्ञान नहीं है। वे वस्तुएँ ज्ञान तभी होती हैं, जब बाहर से आगत उन उपादानों पर मन के तत्व की क्रिया होती है और वे एक नया रूप लेते हैं, उनकी एक खास परिणति होती है। मन के जो तत्व हैं, वे बाहर से आहृत नहीं होते, बल्कि मन के भीतर ही वे होते हैं और उनकी छाप बाहरी वस्तुओं पर पड़ती है। इस कार्य-कारणता की क्रिया से ही वस्तु की परिणति ज्ञान में होती है। इस वाह्यिक उपादान और मानसिकतत्व का मेल ही मूलतया ज्ञान है। मानसिक तत्व वाह्यिक वस्तुओं की जीवनी है और बाहरी उपादान मानसिक तत्व की गति, स्थिति। अन्धे और लँगड़े की दोस्ती से जैसे दोनों की रक्षा सम्भव हो सकी हो।

भरत ने रस-निष्पत्ति में विभाव, अनुभाव, स्थायी और संचारी भाव का संयोग बताया है। इनमें से पहले दो तो रसाभिव्यक्ति के बाहरी उपादान हैं, शेष दो आन्तर। एक का सम्बन्ध जड़ जगत् से है, दूसरे का मनोजगत् से। जिस कार्य-कारण भाव (कैजुअलिटी) से हम ऊपर ज्ञान की स्थिति बता आये हैं, रस के इन चार अनिवार्य वाह्य और आन्तर उपादानों के कार्य-कारण भाव से ही रस की स्थिति है। यों देखने में मानवचित्त से जड़जगत् का स्पष्ट और घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं दिखायी देता, लगता है, दोनों बिल्कुल अलग हैं, एक दूसरे से सर्वथा निरपेक्ष हैं किन्तु वास्तव में दोनों का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। दर्शनों की भूल भित्ति सच पूछिये तो, जड़-चेतन के इस शाश्वत द्वन्द्व

की जो योग्यता है, वह स्वयं लौकिक परिमितता के परे है। वैयक्तिक सीमा-बद्धता जिस प्रकार रस-आस्वादन की बाधा है, उसी प्रकार रस-सृष्टि की भी बाधा है। क्रौंच की जिस वियोग-वेदना से कवि के कण्ठ से आदिश्लोक का आविर्भाव हुआ, वह शोक यदि उनका अपना हुआ होता, तो वे स्वयं दुखी होते और श्लोक-रचना का अवसर नहीं आता। अवश्य ही वह शोक मुनि के हृदय में अलौकिकता से ही रसरूप प्रतीयमान हो सका था। व्यक्ति और विषय-निरपेक्षता से ही वैसी साधारण-स्थिति काव्य में आती है। आलंकारिकों ने जिसे भाव का आस्वाद्यमान रस में रूपांतर कहा है, क्रोचे ने उसी को 'पैसेज फ्रोम ट्रोबलस् इमोशन् टु दि सरैनिटी ऑव कंटेम्प्लेशन' कहा है। साधारणीकृत भाव में देश-काल-पात्रता नहीं होती, वह व्यक्तिगत स्वार्थ और सुख-दुःखों से परे होता है, इसीलिये उसका भय भय नहीं रहता, शोक शोक नहीं रह जाता। अभिनव ने ऐसी चेतना के उद्बोध को चमत्कार कहा है। यह चमत्कार एक साथ ही अनेक आशयों में प्रयुक्त हुआ है। प्रसुप्त वासनाओं में साधारणीभाव की जो बाधकताविहीन चेतनाजन्य उपलब्धि है, वह भी चमत्कार है, जिसे 'ऐस्थेटिक ऐटीच्युड ऑव दि माइंड' भी कह सकते हैं। उससे उत्पन्न जो आनन्द है, वह भी चमत्कार है और जिस मानसिक वृत्ति से उस भाव विशेष का भोग किया जाता है, वह भी चमत्कार है। अभिनवगुप्त ने इस चमत्कार के मनोवैज्ञानिक स्वरूप पर विशेष कोई प्रकाश नहीं डाला है, उन्होंने इसे साक्षात्कार, संकल्प, स्मृति, निश्चयात्मिका वृत्ति, स्फूर्ति, प्रतिभा—इन्हीं नामों से बोध कराने की चेष्टा की है।

साधारणीकरण की विवेचना में उलझनों की भी कम सृष्टि नहीं हुई है। किन्तु अनेक मत विभिन्नता के बावजूद यह सत्य सर्वमान्य है कि वह स्थिति होती है और वह साधारण स्थिति दरअसल यह है कि लौकिक जगत से संपर्कशून्य, देशकाल से परे और व्यक्ति सम्बन्ध की परिमितता से ऊपर विभावादि से जिस आधार का सर्वसाधारण रूप सर्वसामान्य होता है, वही साधारणीवृत्ति है। पाश्चात्य विद्वानों में से किसी ने इसे भाव-मैत्री, तो किसी ने एक के आत्मभाव से दूसरे के आत्मभाव की तदाकारता, तो किसी ने व्यक्ति-सत्ता का विलोप कहा है। इसमें कवि या शिल्पी का अंश अनुभूति की अभिव्यक्ति या व्यंजना और द्रष्टा या पाठक का अंश उस विशिष्ट अभिव्यंजना द्वारा रसानुभूति है। फलतः इस साधारणीभाव की स्थिति सहृदय के हृदय में होती है और शिल्पी द्वारा उन्मेषित या उद्बोधित होती है। शिल्पी अपनी योग्यता से अनुभूति को संवेद्य बनाता है और सहृदय

है, हृदय में जो वासना-रूप स्थित है, विभाव-अनुभावजन्य काव्यार्थ की उससे सादृशी एकरूपता अर्थात् कहीं जैसा है, वैसा ही और कहीं देखना। और मम्मट के 'सकल हृदय संवाद भाजा' का अर्थ होता है, रस सभी सहृदय के चित्त में एक-सा उद्भासित होता है। जो भी हो, रसास्वादन के कारण में दोनों प्रायः एकमत हैं कि वह सीमाबद्ध वासना का फल नहीं है, बल्कि सीमामुक्त साधारणी भाव में ही रस का स्फुरण होता है। किसी प्रेमी के हृदय में जो प्रेम का उदय होता है, वह रस नहीं है, क्योंकि उसकी एक सीमा है प्रेमी का अपना हृदय और इस तरह वह लौकिक हो जाता है। लौकिक अवस्था में विभावादि दुःखदायक होते हैं, उनमें आनन्द की क्षमता अलौकिकता से आती है। यह अलौकिकता अवास्तव या स्वप्न-विचरण नहीं है, यह ठोस यथार्थ है और कवि-प्रतिभा का दान है—अलौकिक विभावत्वं प्राप्तेभ्यः काव्य संश्रयात्। प्रत्यक्ष जगत् की वास्तवता में जो दोष-त्रुटि होती है, प्रतिभा उसका परिहार करके विशुद्ध और पूर्ण वास्तव की सृष्टि करती है। जॉर्ज टामसन ने 'मार्क्सिज़्म ऐंड पोइट्री' में इसे बड़े सुन्दर ढंग से समझाया है। उन्होंने लिखा है, शिल्पी सदा असम्भव का प्रत्याशी होता है, मानों वह गेटे का युफेरियान हो, जो तबतक आकाश में उड़ता ही रहता है, जबतक कि आग की लपटों से स्वाहा होकर अदृश्य न हो जाय। मगर उनकी इस प्रेरणा को धन्यवाद है कि उनकी वह बेसिर-पैर की कल्पना ठोस वास्तव में बदल जाती है। शिल्पी अपने समधर्मियों को कल्पना की दुनिया में उठा ले जाते हैं, जहाँ उन्हें उन्मुक्ति मिलती है और उनकी बुद्धि सीमा के बन्धन को दृढ़ता से इनकार करती है। इसी प्रक्रिया से शक्ति का एक गूढ़ भण्डार संचित होता है, जो दुबारे वास्तव जगत् में प्रवाहित होकर कल्पना को यथार्थ सत्य में बदल देता है। साहित्य में वास्तवता के कट्टर हिमायती क्रिस्टोफर काडवेल भी वास्तवता की प्रतिष्ठा के लिये इस माया को अनिवार्य मानते हैं।

इस अद्भुत् प्रतिमा से काव्य में जो एक सकल हृदय संवादी स्थिति उपस्थित होती है, उसे आचार्यों ने साधारणीकरण कहा है। काव्य की यह सर्वसाधारण भूमि वास्तव में विज्ञान के ज्ञान जैसी ऐब्सट्रैक्ट नहीं होती, बल्कि कंक्रीट युनिवर्सल होती है, जिसमें सभी सहृदयजन अपने को प्रतिफलित देखते हैं—वह स्वगत है, न परगत, न द्रष्टा की, न और किसी की—वह वस्तु और विषय-निरपेक्ष एक साधारणीभाव मात्र होती है।† भाव को रस में रूपांतर करने

† परस्य न परस्येति ममेतिन ममेतिच।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते॥

अनुभाव की वस्तुता भाषा के भाव-रूप से जब अन्तर को आन्दोलित करती है, तो हृदय-वासना रूप वे भाव रसता को प्राप्त होते हैं।

स्थायी और संचारी भावों का तात्पर्य है मनुष्य की सहजात वृत्तियाँ। ये जन्म के साथ ही जीवन से लगी आती हैं और स्वयंसिद्ध हैं। ये सर्वमानव साधारण होती हैं और लगभग सर्वप्राणिसाधारण भी। जात जीव मात्र में खास कुछ चित्तवृत्तियाँ होती ही हैं। व्यक्ति विशेष में उनका आधिक्य या अल्पता तो सम्भव है, किन्तु ये भाव हों ही नहीं, ऐसा हर्गिज नहीं हो सकता। ये वृत्तियाँ पूर्वजन्म के संस्कार स्वरूप हैं, यह शायद आपको स्वीकार न हो; पर मानव क्रम-विवर्त्तन के वैज्ञानिक सिद्धान्त की भी ऐसी ही मान्यता है कि दीर्घकालव्यापी अभिव्यक्ति परम्परा में जो वासना मानव-मन में गहरी बुनियाद डाल लेती है, वंशानुक्रम से एक से दूसरे में एक युग से दूसरे युग में उसकी किसी न किसी रूप में परिव्याप्ति होती है। फ्रायड-प्रमुख वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया है कि वैसे भावों में से कुछ तो चित्त की ऊपरी सतह पर तिरते हैं, जिनका अस्तित्व जाना जा सकता है और कुछ जो मन की गहन गोपनता में छिपे होते हैं, उनकी भी निश्चित सत्ता होती है, भले ही उनका प्रकाश सहज न हो। लकड़ी में जैसे आग या दूध में जैसे मलाई छिपी होती है। ऐसे स्थायीभावों के स्वरूप को अभिनव गुप्त ने 'संवित्' या 'वासना' कह कर समझाने की चेष्टा की है। अपने काव्य-सूत्र में ग्रीक आचार्य अरस्तू ने इसकी खास कोई चर्चा नहीं की है—किन्तु उसकी व्याख्या में बूचर ने 'प्राइमरी इमोशन' और 'दि पासिंग मूड्स ऑव फीलिंग' या 'मोर ट्रांसियेंट इमोशन्स' जो कहा है, सम्भव है, उसका आशय स्थायी और संचारी भाव ही हो। पाश्चात्य विद्वानों ने इन्हीं भावों को दो रूपों में माना है—भाव और मनोवेग। किन्तु इस प्रकारता का अन्तर्भाव हो जाता है और फीलिंग तथा इमोशन एकार्थक ही होते हैं। आज के मनोविद्याविद् इन इमोशनों को मात्र सुख-दुःखानुभूति ही नहीं मानते, इन्हें सर्वावयव मानसिक अवस्था मानते हैं। ऐसी अनुभूतियाँ उनकी राय में कुछ खास-खास 'आइडिया' पर अवलम्बित रहती हैं। मानसिक संस्थान में उन्होंने अनुभवों के तीन प्रकार माने हैं—बोधात्मक, भावात्मक और संकल्पात्मक। सहजात प्रवृत्तियों में मूलतया ये तीनों अनुभव होते हैं। स्थायीभाव सहजात हैं, अतः उनके उत्पन्न होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु चूंकि कारण विशेष से वे क्रियाशील होते हैं, इसलिये वैसी स्थिति में ही हम उनकी सत्ता से परिचित होते हैं और समझते हैं कि उनका उन्मेष हुआ। सञ्चारी से स्थायी में गति आती है या

अपनी योग्यता से उस संवेद्य अनुभूति को ग्रहण करता है। एक की वह योग्यता प्रतिभा है, दूसरे की सहृदयता या रसिकता। भावों का साधारणीकरण क्यों या कैसे होता है, इसके उत्तर में दो बातें कही जा सकती हैं। एक कि मानव-चित्त में कुछ सर्वजनसुलभ भाव या संस्कार होते हैं, दूसरी कि कवि अपनी प्रतिभा से उन भावों को उद्बुद्ध करते हैं। भुक्तिवाद के प्रतिष्ठापक भट्टनायक ने इस साधारणीकरण की अवतारणा की किन्तु उन्होंने काव्य में ही ऐसी एक 'भावकत्व' शक्ति का प्रतिपादन किया, जिससे आप ही आप साधारणीकरण हो जाता है। वास्तव में उनकी यह 'भावना' और 'भोगीवृति' काल्पनिक हैं। अभिनवगुप्त ने ठोस मनोवैज्ञानिक आधार पर उसका खण्डन करते हुए दो बातों पर साधारणीकरण का प्रतिपादन किया—भाषा की व्यंजना शक्ति में ही साधारणीकरण की सामर्थ्य है और वह भाषा मानव-मन की उन वासनाओं को उद्बुद्ध किये देती है, जो संस्कार रूप में उनमें स्थित रहती हैं। जिन विद्वानों ने वैज्ञानिक ढंग से इस विषय का विवेचन किया है, वे भी इसी सिद्धान्त पर पहुँचे हैं कि साधारणीकरण भाषा का धर्म है और वह इसलिये होता है कि साधारणीकरण का मूल आधार वह सहानुभूति है, जो समान रूप से सभी मनुष्यों में है। भाषा की भी दो शक्तियाँ हैं, ज्ञान और भाव। साधारणीकरण में भाषा की भाव-शक्ति ही अपेक्षित होती है। उदाहरणस्वरूप संसार के जिस किसी श्रेष्ठ साहित्य को हम लें, उनमें ये दो बातें अनिवार्य रूप से पायी जायँगी कि उनके लेखकों ने अद्भुत व्यञ्जना शक्ति द्वारा अपनी अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया है और कि उन्होंने सर्व-मानव सुलभ भाव की भित्ति पर अपनी कृतियों की इमारत खड़ी की है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसी, इसकाइलस, होमर, शेक्सपियर—कृती शिल्पी में ये नाम लिये जा सकते हैं, स्थायित्व और सर्वजनीनता की विशिष्टता के लिये इनकी कृतियों की कसौटी काल ने खुद कर ली है।

रस-निष्पत्ति के कार्य-कारण रूप के विचार में हम उसके दो वाह्य उपादानों —विभाव-अनुभाव – की चर्चा कर चुके हैं। काव्यगत्-विभाव-अनुभाव द्वारा साधारणीकरण के उस पक्ष की परिपुष्टि होती है, जो भाषागत है और वह व्यञ्जना-शक्तिजात होने से कवि-प्रतिभा की विशिष्टता है। भाव की दुनिया की गहनता में जो आवेदन पहुँचाना होता है, उसकी भाषा भी भावमय होनी चाहिये। अतः कवि अपनी भाषा के भावमय प्रयोग से—हम इसे रूपमय कहेंगे—सहृदय के चित्त को उद्बोधित करता है। सहृदय-चित्त रस के आंतर उपादान अर्थात् स्थायी और संचारी भाव की क्रीड़ा-भूमि है। विभाव-

दुःख के सुख बन जाने की बात को वे सर्वथा प्रतिकूल मानते हैं। बात कुछ परस्पर विरोधी-सी लगती है। जब आलंबन का लोप होकर उसका सर्वसाधारण धर्म ही रह जाता है, तो उसके जागतिक गुण लक्षण उस साधारणता में कैसे रह सकते हैं? प्रत्यक्ष अनुभव भी यह बताता है कि वैसे वर्णन, दृश्य, चित्र हमें आनन्द ही देते हैं—इस आनन्द के स्वरूप को लेकर मतभेद हो सकता है, पर यह तो प्रत्यक्ष ही है कि वैसी स्थिति में हमें दुःख-भय नहीं होता।

आज के इस वैज्ञानिक युग में कला के आनन्द को पिछली मान्यताओं के अनुरूप ही मान लेने को बौद्धिकता हर्गिज तैयार नहीं है। वह न तो उसे सहजानुभूति का आनन्द, न कल्पना का आनन्द और न आध्यात्मिक आनंद ही मानने को तैयार है, अलौकिकता और अनिर्वचनीयता तो एक हास्यास्पद-सी बात है। मनोवैज्ञानिकों में इसपर दो भिन्न-भिन्न मत के पोषक सम्प्रदाय हैं—पहला आनन्दवादी (हिडोनिस्ट) और दूसरा सार्थकतावादी (होरमिक)। एक की मान्यता है कि जीवन साधन है, जिसका साध्य है आनन्द। इसलिये वे जीवन की प्रत्येक क्रिया का लक्ष्य आनन्द मानते हैं। सार्थकतावादियों के मत से क्रिया ही सब कुछ है। क्रियाशीलता जीवन का धर्म है और जीवन ही जीवन का अन्तिम साध्य है। आनन्द को भी वे मानते हैं, पर उसे वृत्तियों की क्रिया की सफलताजात तृप्ति कहते हैं। विश्लेषण से यह तृप्ति वास्तव में आनन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं ठहरती—फर्क उतना ही होता है जितना कि स्वप्न और सपना का है। यह आनन्द ऐन्द्रिय है या बौद्धिक है या आध्यात्मिक—इसपर भी मतभिन्नता का अन्त नहीं। किन्तु उस विस्तार में न जाकर हम इतना ही कहेंगे कि वह सर्वथा ऐन्द्रिय तो हर्गिज नहीं है। वैसा होता, तो शोक-भय की अनुभूति आनन्द का कारण कैसे हो सकती? किन्तु भावमय स्थिति में मानसिक संवेदन के साथ रोमांच आदि शारीरिक संवेदन भी चूंकि प्रत्यक्ष होते हैं, इसलिये उसकी ऐन्द्रियता की आशंका स्वाभाविकतया उठती है। सहज प्रवृत्तियाँ भी सच पूछिये तो मानसिक या शारीरिक नहीं होतीं, बल्कि उन्हें हम मानस-शारीर कह सकते हैं, क्योंकि वे उद्गत तो मन में होती हैं, पर उनकी सहचर भावना का सम्बन्ध शरीर से होता है। व्यक्तिगत रूप से अपने प्रियजन के विछोह या मिलन में जो अनुभूति होती है, काव्य के वर्णन या नाटक के दृश्य से ठीक वही अनुभूति हमें नहीं होती है और वह इसलिये कि एक अनुभव प्रत्यक्ष होता है, दूसरा होता है भावित घटना का। इसलिये काव्यगत जो आनन्द है, वह

उसकी पुष्टि होती है। स्थायी और सञ्चारी का सम्बन्ध ऐसा कुछ है कि एक के बिना न तो दूसरे का परिचय मिलता है, न उपलब्धि होती है। अपने को प्रमाणित करने के लिये एक को दूसरे का अवलम्बन आवश्यक है। दोनों के सम्बन्ध को भिन्न-भिन्न लोगों ने भिन्न-भिन्न तरह से समझाया है—किसी ने समुद्र और तरंग, तो किसी ने माला और माला-धारी धागा। अभिनवगुप्त ने कहा है, दोनों परस्पर एक दूसरे के उपकारी हैं। उपकारी होने का आशय लेकिन यह नहीं है कि संचारी भाव-समूह की भी परिणति रस में होती है, जैसी कि स्थायी भावों की होती है। पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी मति या वितर्क अथवा निश्चय और संशय (बिलीफ ऐंड डाउट) को मनुष्य की मुख्य चित्तवृत्ति नहीं माना है—वे हमारे व्यभिचारी या संचारी से तुल्य हैं। उनमें कोई स्थायी प्रभाव रख जाने की क्षमता नहीं होती। वास्तव में साहित्य की जो भी सामग्री है, सब स्थायी भाव की पूर्णाभिव्यक्ति के लिये ही है और जब काव्य-प्रतिभा की संजीवनीशक्ति से हृदयस्थित वासना या संस्कार रस की भूमि पर उन्नीत हो जाते हैं, तो उनका रूप मात्र एक आनन्दमय चेतना का ही रूप रह जाता है—भाव में से वैयक्तिक वासना की सारी मलिनतायें जाती रहती हैं, यहाँ तक कि भाव का भावत्व भी तिरोहित हो जाता है। यह उस आत्मानंद की स्थिति है, जिसे सद्यः परिनिर्वृति या ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है, जिसे सुप्रीम हैपिनेस या जॉय फॉर एवर कहते हैं। ऐसी ही स्थिति ला देना कला का लक्ष्य है—बर्गसाँ ने कहा है, व्यक्ति की कर्मचंचल शक्तियों को सुला देना कला की तपः सिद्धि है।

आचार्य चन्द्रबली पांडेय ने थोड़े में साधारणीकरण के लिये यह कहा है कि साधारणीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा असाधारण साधारण हो जाता है। असाधारण का अधिकतर सम्बन्ध पात्र या कार्य से होता है—भाव तो साधारण ही होते हैं। साधारण और असाधारण का भेद तभी तक बना रहता है, जब तक चित्त अपर-प्रत्यक्ष की दशा में रहता है अर्थात् वस्तु विशेष को आँकता है। जहाँ उसका चित्त पर-प्रत्यक्ष की दशा में पहुँचा, वहाँ जाति का सामान्य रूप सामने आ गया अर्थात् आलंबन का लोप हो गया, उसका धर्म ही रह गया,—सारांश उसका साधारणीकरण हो गया।* यहाँ तक तो बात एक जैसी रही भी, किन्तु साधारणीकरण में

* साहित्य संदीपिनी।

कला की सर्वजनीनता

कला के साथ सर्वजनीनता—युनिवर्सलिटी—की चर्चा जरूर ही होती है। इस सर्वजनीनता के मानी है सर्वजनअधिगम्यता यानी जो सर्वमानव बोध्य हो। लोग ऐसा मानते हैं कि जो शिल्प सच्चे अर्थ में रसोत्तीर्ण रचना होता है, उसका आवेदन कोई कारण नहीं कि हर हृदय में न पहुँचे। रससिद्धि का लक्षण इस प्रकार सर्वसाधारणता होता है। फलतः कला को अगर हम उद्देश्य कहें तो उसका विधेय होगा, सर्वजन अधिगम्य; यह विधेय स्वभावतया अपने उद्देश्य में ही सन्निहित होगा। टाल्स्टाय ने सर्वसाधारणता की कसौटी को ही कला की उत्कृष्टता का चरम कहा है। उन्होंने उत्कृष्ट कला के तीन लक्षण बताये हैं। एक तो यह कि कला चूंकि एक के अनुभूत भाव को दूसरों में संक्रामित करने का साधन है, इसलिये उसका प्रकाश अत्यन्त स्फूर्त होना आवश्यक है। दूसरा कि जिस कला को जितने ही ज्यादा लोग समझ सकेंगे, वह उतनी ही उत्तम होगी और तीसरा यह कि जिस कला में प्रेम और सहानुभूति के धागे में मनुष्य को एकत्व में आबद्ध करने की जितनी ही क्षमता होगी, वह कला उतनी ही श्रेष्ठ होगी। अपनी इस मान्यता के कारण बीथेवोन और वेगनर जैसे शिल्पियों को टाल्स्टाय ने निकृष्ट कोटि का कलाकार कहा, यहाँ तक कि शेक्सपियर जैसे शक्तिशाली और लोकप्रिय कवि के साथ भी उन्होंने कोई रियायत नहीं की। हम समझते हैं, टाल्सटाय की बातों में स्वविरोध भी है। शेक्सपियर की लोकप्रियता यों कुछ कम नहीं। यदि ज्यादा से ज्यादा लोगों के लिये सुलभ होना अच्छी कला है, तो शेक्सपियर बेशक अच्छे कलाकार ठहरते हैं। इसका एक दूसरा पहलू भी विचारणीय है। अगर ज्यादा से ज्यादा लोगों को रिझा सकना अथवा ज्यादा से ज्यादा लोगों में भावों को संक्रामित कर देना ही उत्कृष्ट कला हो तो ये बाजारू गीत, यौनभावापन्न रचनायें ही साधकों की तपस्या के दान से बाजी मार ले जायँगी। वास्तव में टाल्सटाय ने कला के सौंदर्य और आनन्द के पहलू की उपेक्षा करके उसके नैतिक प्रयोजन को ही उत्कृष्टता का एक मापदण्ड मान लिया और उसीके साथ सर्वसाधारणता की विशिष्टता भी जोड़ दी लिहाजा दोनों का मेल नहीं बैठता।

जो भी हो, यह विचार देखना है कि सर्वजनीनता का जो अभिधानगत अर्थ है अर्थात् सर्वजनबोध्य होना, कला का प्रकृतिगत उससे कोई मेल भी

उस अनुभूति का है, जो न तो सर्वथा ऐन्द्रिय ही है, न ही सर्वथा बौद्धिक। इन दोनों से उसका एक ऐसा समन्वित और नवीन रूप होता है, जिसमें न तो प्रत्यक्ष की स्थूलता होती है, न बौद्धिकता की अरूपता। इन दोनों का वह एक अधिक परिष्कृत, प्रांजल, विशुद्ध और सरस रूप है और यह आनन्द उसी सरसता का अनुपम दान है।

शिल्प आनन्दात्मक या आनन्द-स्वभाव होता है। इस आनन्द को लोकोत्तर या अलौकिक कहने का आशय उसे स्वप्न-स्वर्ग की वस्तु बनाना नहीं है, न ही उसकी भित्ति वास्तव-हीनता पर प्रतिष्ठित करना है। चूंकि इस आनन्द की स्थिति विषयगत नहीं होती, इसलिये इसमें अलौकिकता है। धनलाभ, यशलाभ, संतानलाभ का भी आनन्द है: वह आनन्द मेरे नितांत निजत्व के संकुचित दायरे से बँधा होता है। काव्यगत आनन्द में देशकाल-पात्रता का ऐसा व्यवधान नहीं होता।

सत्य को सिर झुका कर स्वीकार करने की विवशता है। अनुभूति, आप बुद्धि भी कहें, के दरबार में कला की दुहाई पड़ती है, जो स्वरूपगत वैयक्तिक है, इसे कैसे इनकार किया जा सकता है? बुद्धि हो चाहे अनुभूति, वह ऐब्स्ट्रैक्ट या निरालंब तो हर्गिज नहीं होती, जिस पर शिल्प टिक सके, उसे तो अपनी सफलता के लिये अनिवार्यतः व्यक्तिविशेष के मन पर आश्रित होना ही पड़ता है। व्यक्तिविशेष द्वारा ही शिल्प की कीमत आँकी जाती है। ऐसे शिल्प के समझदारों को विदग्ध या रसज्ञ कहा गया है—अरस्तू की टीका में बूचर ने जिसे 'ए मैन ऑव एडुकेटेड टेस्ट' यानी मार्जित रुचिसंपन्न कहा है। रसज्ञता को भी काव्य-प्रतिभा के समान दैवी माना गया है, किंतु उसका अभ्यास से परिष्कार और अभिवृद्धि संभव है। रैफेल के चित्र को देखकर रङ्ग-रेखा की संयत आकृति भली तो बहुतों को लग सकती है, बहुतों को आनंद भी आ सकता है, किंतु उसका यह अर्थ नहीं कि वे उसके मर्मी भी होंगे। शरीर विज्ञानियों ने सौंदर्यबोध में एक शारीर विक्रिया मानी है। उनके मत से किसी दृश्य या रङ्गों की जगमगाहट से आँख से सम्बन्धित अनेक शिराओं में एक खास तरह का कंपन हुआ करता है। वह कंपन किंतु पशुओं में भी तो होता है। फिर भी पशुओं को सौंदर्यबोध के साथ उसकी समझदारी क्यों नहीं आती? इसलिये कि उस प्रक्रिया के साथ परिष्कृत मन का भी संयोग चाहिये, जो उनमें नहीं होता। कोई पशु अवनींद्रनाथ के चित्र नहीं समझता, कोई पंछी गा सकने पर भी ओंकारनाथ की तानें नहीं समझ सकता, सिखायी बोली की रट लगा चाहे ले, बातें नहीं कर सकता। ज्ञान-बुद्धि की अपरिपक्वता और मन की परिष्कृति न होने से ही ऐसा होता है। रुचिहीन अरसिक आदमी भी उन्हीं की तरह वैसे चित्रों का रस आँखें खुली रहने पर भी नहीं ले सकता, कान खुले रहने पर भी संगीत की ध्वनि का सच्चा आनन्द नहीं पाता।

बहुत-से लोग रससृष्टि और रसोपभोग, दोनों में एक ही विदग्धता अथवा रसज्ञता स्वीकार करते हैं, जो पार्थक्य दोनों में मानते हैं, वह परिमाण का है। आंतरिक संस्कारों के उद्बोध की दृष्टि से दोनों में किसी हद तक समता जरूर है, क्योंकि स्रष्टा और द्रष्टा, गायक और श्रोता, कवि और पाठक दोनों की रसदृष्टि जब तक एक नहीं होती, रस नहीं मिलता। किसीने इस भावमैत्री को एकांत प्रयोजनीय मान कर यह कहा है कि शेक्सपियर को समझने के लिये शेक्सपियर होना पड़ता है। उसके लिये अधिकारी होने की आवश्यकता है, हर कोई उस क्षेत्र में प्रवेश का अधिकार नहीं पाता। सत्र

है ? आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि जिस अर्थ में युनिवर्सल कहे जाते हैं, क्या कला भी उसी अर्थ में युनिवर्सल होती है ? रसोत्तीर्ण होने से ही शिल्प-साहित्य की मर्मवाणी क्या प्रत्येक अन्तर को एक ही जैसा छू सकती है ? अगर कला की साधारणता का यही अर्थ होता और वह युक्तियुक्त एवं सत्य भी होता, तो भवभूति जैसे कवि को 'कालोह्ययं निरवधिर्विपुलाच पृथ्वी' कह कर अपनी कृति को अज्ञात भविष्य को क्यों उत्सर्ग करना पड़ता ? क्यों रवींद्र जैसे कवि सर्वत्रगामी होने में अपनी असफलता स्वीकार करके किसी ऐसे आनेवाले कवि की उस वाणी की ओर कान बिछाये रह जाते जो आकर एक की बात को सब की बना सकेगा ? कोई भी रससिद्ध कवि या पहुँचे हुए कलाकार सब को समान प्रिय होते हैं क्या ? कुछ ऐसे ही कलाकारों के उदाहरण लिये जायँ, जो कम से कम कालजयी प्रमाणित हो चुके हैं—वाल्मीकि और होमर, कालिदास और शेक्सपियर, सूर और तुलसी—इनकी प्रतिभा और कुछ नहीं तो मृत्युंजयी तो है, लेकिन क्या ये हमको आपको एक-से ही प्रिय हैं ? सूर को सूर और तुलसी को शशि आखिर कोई क्यों कहता है ? जब रुचि-भिन्नता के मुताबिक़ एक ही का भिन्न-भिन्न मूल्य-महत्व हो जाता है, तो इस सर्वजनीनता का प्रश्न ही नहीं रह जाता। हमें जो रुचता है, वह सर्वजनीन इसलिये नहीं है क्योंकि वह आपको नहीं रुचता और आपको जो जँचता है उसकी सर्वजनीनता इसलिये प्रमाणित नहीं होती कि वह हमें प्रिय नहीं है। फलतः हमें किसी न किसी रूप में यह तो कबूल करना ही पड़ता है कि जिसके पास शिल्प का आवेदन पहुँचता है, उसकी कोई खास रसदृष्टि जरूर होती है। शिल्प का वास्तविक आवेदन तो रसज्ञ के ही लिये होता है। यह रसज्ञता शिक्षा-दीक्षा और परिवेश-सापेक्ष होती है। इसलिये किसी शिल्प की सर्वजनीनता इस अर्थ में हर्गिज नहीं प्रमाणित होती।

जयदेव और विद्यापति के गीतों से अनेक धर्मप्राण व्यक्ति भक्ति से आत्मविभोर हो जाते हैं, किन्तु चूंकि उन्हीं की दृष्टि से हम भी उन गीतों को नहीं देख सकते इसलिए कवि की जो अनुभूति की गहराई उनमें व्यक्त हुई है, उस अतल तक हम नहीं पहुँच सकते। इससे यह निर्विवाद है कि कला की एक ही वस्तु रुचि विशेष के हिसाब से अलग-अलग अर्थ और आनन्द देती है या किसी-किसी को नहीं भी देती। यह स्वतंत्र रूप से पाठक, श्रोता या दर्शक की अपनी रसज्ञता पर निर्भर है। आपको शायद यह आपत्ति हो कि रसबोध को व्यक्तिकेंद्रित करके हम कला की व्यापकता को क्षुण्ण कर रहे हैं, किंतु वैसे व्यक्तियों के समूह का एक भरोसा है और न भी हो तो इस कठोर